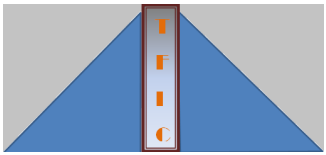

THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

वर्द्धमान

ज्ञानपीठ-लोकोदय ग्रंथमाला हिंदी-ग्रन्थाङ्क—१३

वर्द्धमान

रचयिता

महाकवि अनूप

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला सम्पादक
लक्ष्मीचन्द जैन एम० ए०, डालमियानगर

प्रकाशक—
अयोध्याप्रसाद गोयलीय
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्डरोड, वनारस ४

वीर-शासन जयन्ति
श्रावण कृष्ण १ वी० नि० स० २४७७
जुलाई १९५१

प्रथम सस्करण ३०००
मूल्य छह रु०

मुद्रक—
जे० के० शर्मा
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

आमुख

'सिद्धार्थ' महाकाव्यके यशस्वी कलाकार श्री प० अनूपशर्मा एम० ए०, एल० टी०, ने आज अपनी प्रतिभाकी चमत्कृत छैनीसे उन अद्वितीय जन-गण-मन अधिनायक भगवान् महावीरकी शान्त और सतेज प्रतिमा गढी है जिनकी मूर्तिके अभावमें माँ भारतीका मन्दिर शताब्दियोसे सूना-सूना लग रहा था। यह भारतीय ज्ञानपीठका सौभाग्य है कि उसे इस कलाकृतिको प्रकाशमे लाने और श्रुत-शारदाके मन्दिरमें प्रतिस्थापन करनेका गौरव मिल रहा है।

भगवान् महावीर जैनधर्मके उन्नायक अन्तिम (२४वे) तीर्थंकर थे। उनके ५ नाम थे, जो गुणाश्रित थे—वीर, अतिवीर, महावीर, सन्मति और वर्द्धमान। प्रस्तुत काव्यके शीर्षकके लिए 'वर्द्धमान' नाम ही उपयुक्त समझा गया, यद्यपि प्रारम्भमें कविने मूल पाडुलिपिका 'शीर्षक सिद्ध–शिला' दिया था और हमारे कई प्रकाशनोमे इस ग्रन्थकी योजना इसी नामसे घोषित की गई थी। 'सिद्ध–शिला' भगवान् महावीरकी जीवन-साधनाका चरम लक्ष्य—मोक्ष—का प्रतीक है, और 'सिद्धार्थ' के साथ लेखककी कृतियोका स्मृति-सरल युग्म बन जाता, पर कठिनाई यह थी कि 'सिद्ध-शिला' का शीर्षक साधारण पाठक को काव्य–विषयका सुबोध सकेत न दे पाता। दूसरी ओर, भगवान् महाधीर का 'वर्द्धमान' नाम इतना प्रचलित है कि भगवानकी विहार और उपदेश–भूमिका एक खड बगालमें इस नामसे ही (वर्दवान=वर्द्धमान) प्रसिद्ध है।

'वर्द्धमान' के सम्बन्धमें मुख्य विचारणीय बात यह है कि यह ग्रन्थ न तो इतिहास है न जीवनी। यदि आप भगवान् महावीरकी जीवन-सम्बन्धी समस्त घटनाओका और तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक परिस्थितियो का क्रमवार इतिहास इस ग्रन्थमें खोजना चाहेगे तो निराश होना पडेगा। यह तो एक महाकाव्य है, जिसमें कविने भगवान्के जीवन और व्यक्तित्वको आधार-

फलक बनाकर कल्पनाकी तूलिका चलाई है। यहाँ इतिहास तो केवल डोर-की तरह है जो कल्पनाकी पतगको भावनाओके आकाशमें खुली छूट देनेके लिए प्रयुक्त है। उडानका कौशल देखनेके लिए दर्शककी दृष्टि पतग पर रहती है, डोर पर नहीं। हाँ, पतगके खिलाडीको उतनी डोर अवश्य सँभालनी पडती है जितनी उडानके लिए आवश्यक है।

महाकाव्यके कविके लिए जो एक बन्धन आवश्यक है, वह है साहित्यिक-परम्परा और पद्धतिका। दण्डीने अपने ग्रन्थ काव्यादर्शमें महाकाव्यके निम्नलिखित लक्षण बतलाये हैं —

> "महाकाव्यकी कथावस्तु किसी प्राचीन इतिहास अथवा ऐतिहासिक वृत्तके आधारपर हो। नायक धीरोदात्त प्रकृतिका हो। महाकाव्य-में नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, सूर्योदय, चन्द्रोदय, जलक्रीडा, विवाह, यात्रा, युद्ध आदिका वर्णन होना चाहिए। अति सक्षिप्त नहीं होना चाहिए। इसमें वीररस अथवा शृगाररस प्रधान हो और दूसरे रस भी गौणरूपमें हों। सम्पूर्ण काव्य सर्गोमें विभक्त होना चाहिए। प्रतिसर्गमें एक ही वृत्तके छन्द हो, किन्तु सर्गके अन्तमें अन्य वृत्तके छन्द अवश्य हों" इत्यादि। (काव्यादर्श—१।१४।४९)

महाकाव्यकी उपर्युक्त परम्पराका आधार सस्कृत साहित्य है। सस्कृतके लगभग सभी महाकाव्य इसी परिपाटीके आधार पर लिखे गये है अत उनके लिए विषय और आख्यान भी ऐसे ही चुने गये है जिनमें महाकाव्यकी कथा वस्तु के प्रसारकी और उपयुक्त सामग्री प्रदान करनेकी क्षमता हो। भगवान राम, आनन्दकन्द कृष्ण और महात्मा बुद्धके जीवन-आख्यानोको कवियोने अनुश्रुति और प्रतिभाके बल पर इस प्रकार विकसित कर लिया कि ईस्वी पूर्व चौथी और पाँचवी शताब्दीमे 'रामायण' तथा 'महाभारत' और तीसरी शताब्दी, (ईस्वी उत्तर) में अश्वघोष द्वारा 'बुद्ध-चरित' नामक महाकाव्योकी रचना हुई। क्या कारण है कि भगवान् महावीरके जीवनवृत्तके आधारपर शताब्दियो बाद तक भी कोई सागोपाग महाकाव्य न लिखा जा सका? हिन्दी साहित्यमें भी

जहाँ सूर और तुलसीके समयसे लेकर आधुनिक युग तक 'रामचरितमानस' 'सूर-सागर' 'बुद्ध-चरित' 'प्रिय-प्रवास', 'साकेत', 'यशोधरा' और 'सिद्धार्थ' लिखे गये वहाँ 'वर्द्धमान' के लिए हिन्दी साहित्यको इतनी लम्बी प्रतीक्षा करनी पडी। इसका मुख्य कारण यह है कि भगवान् महावीरकी जीवनी जिस रूपमे जैनागमोमे मिलती है उसमे ऐतिहासिक कथा भाग और मानवीय रागात्मक वृत्तियोका घात-प्रतिघात गौण है और भगवान्की साधना—मोक्ष-प्राप्तिकी प्रयत्न-कथा ही मुख्य है। महाकाव्यके लिए जिस शृगार अथवा वीर रसके परिपाक की आवश्यकता है उनका ऐतिहासिक कथा-सूत्र या तो मूलरूपसे है ही नही या किन्ही अशोमे यदि घटित भी हुआ हो तो उपलब्ध नही।

उदाहरणके लिए, दिगम्बर मान्यतानुसार भगवान् महावीरने विवाह नही किया और कुमारावस्थामें ही वैराग्य ले लिया। ब्रह्मचर्यके इस अखड तेज-में उत्कट बल और विजय तो है, पर शृगारके रस-विलासकी भूमिका नही। महाकाव्यमे घटनाओ और भावनाओंके सघातके लिए जिस प्रतिद्वदी और प्रति-नायककी आवश्यकता है वह भी नही। फिर जल-क्रीडा, उद्यान-विहार, विवाह, यात्रा, युद्ध और विजय-प्राप्तिके मानवीय चित्रणो द्वारा रसोकी आयोजना-उत्पत्ति हो तो कैसे? जैनाचार्योंने प्राकृत और सस्कृतमे जब कुमारावस्थामे वैराग्य प्राप्त करने वाले तीर्थकरो और महापुरुषोकी जीवनी लिखी तो शृगार-सर्जना के लिए उन्हे मुक्तिको स्त्री और नायिका तथा काम या मारको प्रतिद्वदी बना कर शृगार और वीर रसके उपादान जुटाने पडे। इससे रीतिकी तो रक्षा हुई, शब्द और अर्थका चमत्कार भी उत्पन्न हुआ, पर पाठककी अनुभूतिको उकसा कर हृदयको भिगोने और गलाने वाला रस कदाचित् ही उत्पन्न हुआ।

इस कठिन पृष्ठभूमि पर महाकवि अनूपने 'वर्द्धमान' काव्य लिखा है। काव्यमे १७ सर्ग है और कुल मिलाकर १९९७ चतुष्पद (छद) है। इस प्रकार ग्रन्थको महाकाव्यका पूरा विस्तार प्राप्त है। इसे हरिऔधजीके 'प्रियप्रवास' और कविकी अपनी कृति 'सिद्धार्थ' के अनुरूप सस्कृत-बहुल भाषा और सस्कृत वृत्तोमे लिखा गया है। प्राय समूचा काव्य वशस्थ वृत्तमे है। केवल घटनामे

तोड देनेके लिए कहीं-कहीं मालिनी और द्रुतविलम्बित छन्दका उपयोग किया गया है। ग्रन्थका उपसंहार शिखरिणीमें किया गया है। विषय-क्रमसे सर्गोंका विभाजन मोटे रूपसे इस प्रकार है —

वर्णन और प्रकृति-चित्र—प्राय सब सर्गोंमें, किन्तु विशेष कर पहला, तीसरा, सातवाँ, आठवाँ, दसवाँ, और ग्यारहवाँ सर्ग।

कथा-भाग—

चौथा, आठवाँ, नौवाँ, बारहवाँ, चौदहवाँ, पन्द्रहवाँ, सोलहवाँ और सत्रहवाँ सर्ग।

प्रेम शृंगार और मनोरंजनात्मक—

दूसरा, पाँचवाँ और छठा सर्ग।

वैराग्य और उपदेशात्मक—

दसवाँ, ग्यारहवाँ, तेरहवाँ और सत्रहवाँ सर्ग।

महाकाव्योंके अनुरूप 'वर्द्धमान' में वर्णन-सौंदर्य पद-लालित्य, अर्थ-गाम्भीर्य, रस-निर्झर और काव्य-कौशल सभी कुछ है। पद-पद पर रूपकों, उपमाओं और अन्य अलंकारोंकी छटा दर्शनीय है। इतना श्रम-साध्य कौशल होने पर भी सरलता और प्रवाहकी रक्षाका प्रयत्न है। सारा काव्य भगवान् महावीरके पिता राजा सिद्धार्थकी राज-सभाकी तरह साक्षात् सरस्वतीका प्रतीक है —

"सुवर्ण-वर्णा, ललिता, मनोहरा
सभा लसी यों पद-न्यास-शालिनी।
विरचि-सिद्धार्थ-सुता लखी गई
शरीरिणी ज्यों अपरा सरस्वती॥"

(पृष्ठ ४३, छंद ३३)

भगवान्की माता त्रिशलाके वर्णनमें कविने उपमाओंकी मनोहारिणी लड़ी पिरोई है। त्रिशला कल्प-वल्लरी है —

"सुपुष्पिता दन्त-प्रभा-प्रभावसे
नृपालिका पल्लविता सुपाणिसे।

सुकेशिनी मेचक[1]-भृ ग-यूथसे
[2]अनल्पथी शोभित कल्पवल्लरी ॥

(५०।५९)

इन्ही त्रिशलाके वर्णनमे तरगिनी (नदी) का रूपक देखिए —

"सरोज-सा वक्त्र, सु-नेत्र मीन-से
सिवार-से केश, सुकठ कबु-सा।
उरोज ज्यो कोक, सुनाभि भौंर-सी
तरगिता थी त्रिशला-तरगिणी ॥

(५५।८१)

कविकी कल्पनाका कौशल देखिए कि त्रिशलाकी उँगलीको साक्षात् महाभारतकी कथा वना दिया —

"नलोपमा,[3] अक्षवती,[4] स-ऊर्म्मिका[5]
मनोहरा, सुन्दर-पर्व-[6]सकुला।
नरेन्द्र-जाया-कर-अगुली लसी
कथा महाभारतके समान ही ॥

(६०।१०२)

त्रिशलाकी वाणीकी मिठास सुन कर कोयल और वीणा, दोनोका मान खडित हो गया। एक वन-वनमें रोती फिर रही है और दूसरी धराशायी हो गई —

---

[1]नीले, [2]अत्यन्त,

महाभारतके पक्षमें	—	त्रिशलाके पक्षमें
[3]राजा नलको चर्चा	—	वृन्त-नालके समान
[4]पासे वाली	—	चिह्न वाली
[5]तरग (परिच्छेद)	—	रेखा-तरग
[6]खड	—	पोर।

"परन्तु जो सर्वद सर्वदा उन्हें
विचारते थे, वह यों निराश थे।
न पीठ पाई अरि-वृन्दने कभी
न वक्ष देखा पर-नारिने तथा॥
सदैव सर्वज्ञ न भूमिपाल थे
न जानते थे इतना कदापि वे।
नकार होगी किस भाँतिकी अहो॥
सनाथको आश्रितको अनाथको।
(४८। ३६–३७)

सुसह्य हेमन्त रवीव पार्थके
विनष्ट हेमन्त नलेव शत्रु थे ॥
(४५।४३)

"तडाग थे, स्वच्छ तडाग हो यथा
सरोज थे, फुल्ल सरोज हो यथा।
शशांक था, मजु शशांक हो यथा
प्रसन्नता पूर्ण शरत्स्वभाव था ॥
(१४०।४)

"अधौत वस्त्रा, अमिता अशसिता
अशौच-देहा, अभगा, अमानिता।
अदर्शनीया, अनलकृता अ-भा
अभागिनी थी अबला अमानुषी ॥"
(चन्दनाका वर्णन—४८६।१८९)

नि सन्देह इस प्रकारके अलकार सस्कृत साहित्यमे अन्यत्र भी पुन-पुन आये है और खोजनेसे अलकार साम्य दिखाया जा सकता है पर इस प्रकार देखे तो कालिदास, भवभूति, भारवि और माघ, तथा गुणाढ्य, विमल, हरिषेण, जिनसेन और धनजय आदिके बाद तो कोई उपमा और अलकार अछूते नही बचते ? और बाणके विषयमे तो यहाँ तक कह दिया गया है कि—"बाणोच्छिष्ट जगत्सर्वम् "।

परम्परागत अलकार कौशलके अतिरिक्त कविवर अनूपने 'वर्द्धमान' काव्य मे अपनी भावमयी कल्पनासे सुषमाके अनेक नये सुमन उपजाये है। कही-कही शब्दोकी कल्पनामें अर्थ और मृदुताका इतना विस्तार भरा है कि परिभाषाएँ और कल्पनाएँ काव्यमय हो गई है।

त्रिशला स्वप्न देख रही है। स्वप्नकी परिभाषा और स्वप्नका समा किस तरह सजीव और सजग हो गया —

"निशीथके बालक, स्वप्न नामके,
प्रबुद्ध होके त्रिशला-हृदब्जमें।
मिलिन्दसे गुंजन-शील हो गए"
(१०५।१७)

"उगा नहीं चन्द्र, समूढ प्रेम है
न चाँदनी, केवल प्रेम-भावना।
न ऋक्ष[1] हैं, उज्ज्वल प्रेम-पात्र हैं
अत हुआ स्नेह-प्रचार विश्वमें॥"
(१४।६३१)

और यह आँसू है —

"वियोगकी है यह मौन भारती
दृगम्बु-धारा कहते जिसे सभी।
असीम स्नेहाम्बुधिकी प्रकाशिनी
समा सकी जो न सशब्द वक्षमें"
(४२१।७२)

'वद्धमान' में शृगार और प्रेमका वर्णन राज-दम्पत्ति सिद्धार्थ और त्रिशला के प्रौढ गार्हस्थिक स्नेह पर अवलम्बित है। शृगार-रसकी सहज उत्पत्ति और विकासके जो उपादान है और नायक-नायिकाके युवकोचित विभ्रम-विलास-के चित्रणके लिए कविको जो चित्र-पट प्राप्त होना चाहिए वह यहाँ नही है। इस लिए इस शृगारका सन्तुलन कठिन हो गया है। पर कविने इसे निभानेका प्रयत्न किया है। पाँचवे सर्गमें प्रेमकी गरिमा और महिमा सिद्धार्थ और त्रिशलाके स्नेह-सवादके रूपमे दिखाई गई है। दार्शनिकताके बीचमें जहाँ कही मानवीय प्राणोकी भावधारा उमडती है वहाँ स्थल अधिक नरम और सजीव हो जाते है। —सिद्धार्थ कहते है —

---

[1] तारे

"वहित्र[1]-सा जीवन मध्य-रात्रिके
पड़ा रहा चंद्र-विहीन सिंधुमें।
मिला न दिग्सूचक-यंत्र सा जभी
प्रिये! तुम्हारा कर, मैं दुखी रहा।"
(१६०–८४)

और त्रिशलाकी भाव-प्रतिध्वनि सुनाई पडती है —

"प्रकाशसे शून्य अपार व्योममें
उड़ी, बनी आश्रित-एक-पक्ष[2] में।
मिला नहीं, नाथ! द्वितीय पक्ष-सा
जभी तुम्हारा कर मैं दुखी रही"
(१६०।८५)

इस सवादका धरातल इतना ऊँचा उठाया गया है कि एक स्थान पर यह अत्यन्त आध्यात्मिक हो गया है —

"प्रभो! मुझे हो किस भाति चाहते?"
"यथैव निःश्रेयस चाहते सुखी।"
"प्रिये! मुझे हो किस भाति चाहती?"
"यथैव साध्वी पद पार्श्वनाथके॥"
(१५८।७६)

इस स्थान पर पहुँच कर सहसा ध्यान आता है कि यहाँ पाँचवें सर्गमें जो राज-दम्पति इतने ऊँचे उठकर प्रेमवार्तालाप कर रहे हैं दूसरे सर्गमें भी तो यही दम्पति हैं जो भगवान्के जनक और जननी बनने वाले हैं। लगता है जैसे कवि-ने दूसरे सर्ग मे इन्हे केवल राज-दम्पतिके रूपमे ही मान कर [illegible] नख-शिखका वर्णन किया है। यह यद्यपि मात्रामें कम है पर [illegible]

---

[1]नाव, [2]पंख।

के अनुकूल है किन्तु यहाँ-वहाँ इस लिए नहीं खपता कि त्रिशला शास्त्रीय नायिका न होकर भगवान्‌की माता है। सम्भवतया कविके सामने शृंगार चित्रण-के लिए बहुत ही सीमित फलक था। इतनेमें ही उसे सब कुछ कहना था और परम्पराको निभाना था। कविने फलककी सकीर्णताके दोषको श्लोकोंकी [illegible]-से ढँकना चाहा है और यहाँ भक्त पाठकके मनमें विभ्रम और कहीं-कहीं जुगुप्सा उत्पन्न हो जाती है। ऐसे पाठकका विचार है कि उरोज, नितम्ब और जघन-स्थलीका इतने अधिक बार उल्लेख न होता तो भी काम चल सकता था। इसके उत्तरमें यही कहा जायेगा कि काव्यमें जो वर्णन परम्परासे मान्य है और शृंगारके प्रसंगमें अशोभन नहीं उसे छोड़नेके लिए कवि बाध्य नहीं। दूसरी बात यह भी है कि त्रिशलाका नखशिख वर्णन राजाकी प्रेयसीके रूपमें किया जा रहा है। सिद्धार्थका मन-भृङ्ग सौन्दर्य-वल्लरीके जिन सरस दलों और विकच-कुसुमोंके प्रति लुब्ध है, उनका शास्त्रीय वर्णन उन्हींके दृष्टिकोणसे किया गया है। तीसरे यह कि दूसरे सर्गका पार्थिव शृंगार यदि पाँचवें सर्गमें अपार्थिव और आध्यात्मिक हो गया है तो यह कविकी सफल कल्पनाका प्रतीक है।

जैसा कि होना चाहिए, वर्द्धमान काव्य प्रधानतः भक्ति और वैराग्यका काव्य है। महावीर कुमारावस्थासे ही दयार्द्रमन और चिन्तनशील हैं। आठ वर्षकी अवस्थामें ही वह अपने सखाओंको सम्बोधित करते हैं —

"सखे! विलोको वह दूर सामने
प्रचण्ड दावा जलता अरण्यमें।
चलो, वहाँके खग जीव जन्तुको
सहायता दें, यदि हो सके, अभी॥"
मनुष्य, पक्षी, कृमि, जीव, जन्तुकी
सदैव रक्षा करना स्वधर्म है।
अब चलो काननमें विलोक लें
कि कौनसी व्याधि प्रवर्द्धमान है॥"

इसी आयुमें कुमार वर्द्धमान ऋजुबालिका नदीके तट पर पहुँचते —

"नितान्त एकान्त-निवास-सत्स्पृही
कुमारको थी सरि मोद-दायिनी।
कभी-कभी आ उसके समीप वे
विचारते जीवनका रहस्य थे॥"

सोलह वर्षकी अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते उनकी वैराग्य-भावना और भी प्रबल हो गई और प्रकृतिके सौन्दर्यसे प्रभावित होकर वह गाने लगे —

"मनुष्यका जीवन है वसन्त-सा
हिमर्तु प्रारम्भ, निदाघ अन्तमें।
जहाँ सदा भाव प्रसून फूलते
विचारके भी फलते प्रतान हैं॥"
"लिया जभी जन्म, तुरन्त रो उठे
विलोक पृथ्वी हँसने लगे सभा।
मुहूर्त जागे, क्षण-एक सो, उठे
सुदीर्घ सोये, तब जागना कहाँ?

गृहस्थके साधु-समाजके सभी
बता चले धर्म तथैव कर्म भी ॥"
(५६२–१४९)

वैशाली के प्रमुख गण-तन्त्र की परम्पराओंमें पले तथा सामान्य मानव-समाजके हित और उद्धारकी भावनाओंसे पूरित-हृदय भगवान्‌के उपदेश सर्वसाधारणके बोधगम्य होने ही चाहिए थे। उनकी शैली, वाणी-माधुर्य और भाषाकी यही विशेषता थी।

श्री अनूप शर्माने इस ग्रथकी रचनामें भगवान्‌के जिस ऐतिहासिक जीवन वृत्तको आधार बनाया है, उसकी रूप-रेखा उन्होने अपने वक्तव्यमें दी है। महावीरकी जीवनी जैनधर्मकी दो सम्प्रदायो—दिगम्बर और श्वेताम्बर—में भिन्न-भिन्न रूपसे मिलती है। जीवन–वृत्तकी जिन ऐतिहासिक मान्यताओंमे दोनो सम्प्रदायोमें अन्तर है उनमें से मुख्य-मुख्य इस प्रकार हैं।

१ **माता**—दिगम्बर मान्यताके अनुसार भगवान् महावीरकी माता त्रिशला वैशालीके हैहय वशीय, जैनधर्मानुयायी क्षत्रिय राजा चेटककी पुत्री थी। श्वेताम्बर मान्यतानुसार त्रिशला चेटककी बहिन थी।

२ **गर्भावतरण**—दिगम्बर मान्यतानुसार भगवान् महावीर आषाढ शुक्ला पष्ठीके दिन रानी त्रिशलाके गर्भमें अवतीर्ण हुए और उन्हीकी कुक्षिसे जन्म हुआ। श्वेताम्बर आगमोकी मान्यता है कि भगवान् महावीर प्राणत स्वर्ग-से च्युत हो कर ब्राह्मणकुडपुरमे ऋषभदत्त नामक जैनधर्मानुयायी ब्राह्मण-नायक-की पत्नी देवनन्दाके गर्भमे आषाढ शुक्ला पष्ठीको आए और ८३ दिन बाद सौधर्मेन्द्रकी इच्छानुसार हिरणैगमेष्ठा देव द्वारा ब्राह्मण भार्या देवनन्दाके गर्भसे निकाल कर क्षत्रिय-भार्या त्रिशलाकी कोखमे लाये गये। बदलेमे त्रिशला की गर्भ-गत पुत्रीको देवनन्दाके गर्भमें लाया गया।

३ **कुटुम्ब**—दिगम्बर मान्यता है कि भगवान् महावीर राजा सिद्धार्थके एक-मात्र पुत्र थे। श्वेताम्बर मान्यता है कि राजा सिद्धार्थके दो पुत्र थे। भगवान् महा-वीरके बडे भाईका नाम नन्दिवर्द्धन था और उनकी भाभीका नाम प्रजावती था।

४ विवाह—दिगम्बर मान्यतानुसार भगवान्का विवाह नही हुआ। श्वेताम्बर मान्यता है कि इनका विवाह समरवीर नामक सामन्तकी कन्या यशोदा-से हुआ। इतना ही नही, इनके एक पुत्री हुई जिसका नाम प्रियदर्शना था।

५ दीक्षा—दिगम्बर मतानुसार भगवान्ने ३० वर्षकी अवस्थामे दीक्षा ली जबकि उनके मातापिता जीवित थे। श्वेताम्बर मान्यता है कि जब २८ वर्षकी अवस्थामे भगवान् महावीरके माता-पिताका देहान्त हो गया तो उन्होने दीक्षा लेनी चाही। बडे भाई नन्दिवर्द्धनके समझानेसे वह दो वर्षके लिए रुक गये और इन दो वर्षोमें उन्होने गृहस्थ होते हुए भी त्यागी जीवन विताया।

६ निर्ग्रन्थ—दिगम्बर मान्यता है कि भगवान दीक्षाके समय नग्न दिगम्बर हो गए। श्वेताम्बर मत है कि भगवान सवस्त्र थे और उनके कन्धे पर देव-दूष्य था।

७ उपदेश—दिगम्बर मान्यतामें भगवानने केवलज्ञान प्राप्त होनेसे पहले उपदेश नही दिया और ६६दिन वाद प्रथम समवसरण उस समय हुआ जब उन्हे इन्द्रभूति गौतम गणधरके रूपमे प्राप्त हुआ।

श्वेताम्बर मतानुसार भगवानका उपदेश केवल ज्ञान प्राप्त करनेसे पहले भी हुआ किन्तु प्रथम समवसरणमें केवल देव ही उपस्थित थे मनुष्य नही।

८ रात्रिगमन—जबकि दिगम्बर मतानुसार भगवानका रात्रिगमन नही है, श्वेताम्बर मान्यता इसके विपरीत है।

उपर्युक्त कथानक–भिन्नतामे विशेष महत्वकी घटना भगवानका विवाह और कौटुम्बिक स्थिति है। 'वर्द्धमान' के लेखकने श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्यताओमें समन्वय उपस्थित करनेका प्रयत्न किया है। उनके बडे भाईने जब विवाहका सदेश भिजवाया —

"विवाह-प्रस्ताव प्रकाशते हुए,
सँदेश-संवाहक-वृन्दने कहा,

"प्रभो! तुम्हारे प्रिय ज्येष्ठ भ्रातृको
अभीष्ट है कौतुक आपका लग्न[1]"
(३८६–६)

भगवानने उत्तर दिया

"कहा किसी ज्योतिष-विज्ञने कभी
विवाह होगा मम तीस वर्षमें
तथा मिलेगी मुझको वधू कि जो
सुभाग्यसे ही मिलती मनुष्यको
(३४१–१८)

× ×

अखंड सौभाग्यवती कलत्रका
अवाप्त होना कुछ खेल है नहीं,
वही वली पा सकता उसे कि जो
खपे, मरे, और जिये अनेकधा।
सुना किसीसे वह दिव्य नायिका,
विराजती तेरह खंड धाममें।
अजस्र आरोहण रात्रि-वारका
सुमार्ग भी दीर्घ [2]त्रयोदशाब्द है॥
न शीघ्रगामित्व, न मंदगामिता,
न यान साहाय्य, न दंड धारणा।
न पास पाथेय, न दास-मंडली
तथापि जाना अनिवार्य कार्य है॥"
(४१६—५२से ५४ तक)

× ×

---

[1]विवाह, [2]तेरह गुणस्थान।

उसके बाद उनका अन्तिम निश्चय हुआ—

"अत चलूँगा कल मैं अवश्य ही
मुझे महा-सिद्धि-विवाह-ध्येय है
प्रवृत्त होगी कल मार्ग मासकी
पवित्र शुक्ला दशमी मनोरमा"

(४१७–५८)

सोलहवें सर्गमें इस घटनाको कवीद्र-कल्पनाने आगे इस प्रकार बढाया —

"हुआ उसी काल, अहो ! अनन्तमें
निदान ऐसा कि जिसे कवीन्द्र ही
निशान्तमें हैं सुनते कभी, यदा
समीर हो स्तम्भित, शान्त व्योम हो ।

(५०१–३२)

× ×

कुबेर सचालित चार अश्वका
समीप ही स्यदन एक आ गया ।
इतस्तत सैन्धव स्वीय टापसे
अ-धूलि धूलिध्वज थे बिखेरते ।

(५०१–३४)

× ×

तुरन्त ही दिव्यरथी शतागसे
हुआ महीपै अवतीर्ण सामने,
विनीत हो, और निबद्ध-पाणि हो
यतीन्द्रसे की इस भाँति प्रार्थना —
"अवाप्त की है वह उच्च भूमिका,
प्रभो ! मिला सो वरदान आपको,"

× ×

"अत चलो सप्रति दिव्य-लोकमें—
निसर्ग-अत पुरमें—जहाँ प्रभो !
समस्त-देवासुर-मौलि-लालिता
विराजिता है वह आदि-देवता ।
(५०२–४२)

× ×

मनुष्यके सुन्दर रग-रूपमें
जिनेन्द्र-आत्मा अलकेश-सग ही
हुई समासन्न, तुरन्त व्योमको
विशाल धाराट उडे विमान ले ।
(५०४–४५)

× ×

जहाँ न पानी-पवनानलादिका
प्रवेश होता महिका न व्योमका
नितान्त एकान्त-निवासमें कहीं
जिनेन्द्र थे, और अनन्त शक्ति थी ।
(५१२–७८)

× ×

पवित्र एकान्त ! त्वदीय अकमें,
त्वदीय छाया-मय मजु कुजमें,
मुनीन्द्र, योगीन्द्र, किसे न अतमें
सदैव दैवी-सहचारिणी मिली ।
(५१२–७९)

"खडा रहा स्यदन एक याम ही
जिनेन्द्र लौटे सँग दिव्यशक्तिके

प्रकाशके अन्दरमें छिपे हुए
सुव्यक्ति दोनो द्रुत एक हो गए"
(५१३–८०)

कविने इस प्रकार भगवानके विवाहका आध्यात्मिक रूप दिया है और श्वेताम्बर तथा दिगम्बर आम्नायकी मान्यताओमे सामञ्जस्य बिठाया है।

इसी प्रकार कविने भगवानके दिगम्बरत्त्वके विषयमे भी समन्वय किया है। उन्होने माना है कि दीक्षाके समय भगवान निर्ग्रन्थ–निर्वस्त्र हो गए थे, किन्तु देव-दूष्य समीप था —

"अहो अलकार विहाय रत्नके
अनूप रत्न-त्रय-भूषिताग हो
तजे हुए अबर अंग-अंगसे
दिगम्बराकार विकार शून्य हो।
समीप ही जो पट देव-दूष्य है
नितान्त श्वेताम्बर-सा बना रहा
अग्रथ, निर्द्वन्द्व महान संयमी,
बने हुए हो जिन-धर्मके ध्वजी।
(४३२–४३३ पृ० ११९–१२०)

'वर्द्धमान' के पाठक यदि ध्यानसे ग्रथका अध्ययन करेगे तो पाएँगे कि कविने दिगम्बर और श्वेताम्बर आम्नायमें ही नही, जैन धर्म और ब्राह्मण धर्ममें भी सामञ्जस्य बिठानेका प्रयत्न किया है। कवि स्वयम् ब्राह्मण हैं। उन्होने अपनी ब्राह्मणत्वकी मान्यताओको भी इस काव्यमे लानेका प्रयत्न किया है। वास्तवमें भगवान महावीरके जीवनमें ही सच्चे ब्राह्मणत्वको आदरका स्थान प्राप्त है। दिगम्बर आम्नायानुसार इस बातका कम महत्व नही कि केवल-ज्ञान प्राप्त होने पर ६६ दिन तक भगवानका उपदेश न हो सका क्योकि उनकी वाणीको हृदय-ग्राह्य बना कर जन-जनमे प्रचार करनेकी क्षमता रखने वाला व्यक्ति,

जिसे शास्त्रीय भाषामें 'गणधर' कहते है, प्राप्त न हो पाया और जब यह महाज्ञानी पुरुष प्राप्त हुआ तो वह अपने समयका प्रकाण्ड विद्वान इन्द्रभूति गौतम था जो जन्म और जातिसे ब्राह्मण था। भगवानके उपदेशसे प्रभावित होने वाले और उनके धर्ममे दीक्षित होने वाले प्रारभिक व्यक्तियोमें ब्राह्मणोकी ही बहुलता थी।

यद्यपि भगवान महावीरकी साधना और उपदेशका एक प्रधान लक्ष्य वैदिक-यज्ञोकी हिंसावृत्तिको रोकना, और वैदिक क्रियाकाडके अर्थहीन और स्वार्थपूर्ण बन्धनोंसे सर्व-सामान्यका उद्धार करना था, किन्तु वेदके जिन दार्शनिक अशोमें तत्कालीन विद्वानोको पूर्वापर विरोध प्रतीत होता था, उस विरोधका निराकरण भी भगवान्ने जैन-दर्शनके मूल-सिद्धान्तोंके आधार पर किया। वेदोंके दार्शनिक भागमें जहाँ पूर्व तीर्थकरो द्वारा प्रचारित श्रमण सस्कृतिकी विचारधारा ग्रहण की गई है, उसका निदर्शन उसी सस्कृतिके आधार पर किया जा सकता था।

ऊपर जिन इन्द्रभूति गणधरका उल्लेख किया है वह भगवानके प्रधान शिष्य उसी समय बने जब भगवानकी विवेचनासे उनका दार्शनिक सशय नष्ट हो गया। जैनागमोमें इस तात्विक चर्चाका जो उल्लेख आया है उससे प्रतीत होता है कि इन्द्रभूति गौतमको आत्मा (पुरुष) के अस्तित्वमें शका थी। उसने वेदमें पढा था —

"विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य सज्ञास्ति"।

इन्द्रभूतिने इसका अर्थ समझा था —

"विज्ञाघन अर्थात् चेतनापिंड, भूतपादर्थो अर्थात् जल, पृथ्वी, अग्नि आदि भूत-समुदायसे उत्पन्न होकर उसी भूतसमुदायमें विनष्ट हो जाता है। प्रेत्य अर्थात् परलोककी कोई सज्ञा नहीं—परलोक नामकी कोई वस्तु नहीं।

और इन्द्रभूतिने वेदमें यह भी पढा था कि "स वै अयमात्मा ज्ञानमय"—यह वही ज्ञानमय आत्मा है"। अत उसे शका थी कि विज्ञानघन वाली भूतशक्तिको ही आत्मा माना जाए जो विनष्ट हो जाती है अथवा ज्ञानमय आत्माका अलग स्वतत्र अस्तित्व माना जाए जिसका प्रयक्तत्व ऋषिने 'स वै अयमात्मा

वर्द्धमान

पहला सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

अनूप भू भारतवर्ष धन्य है,
धरित्रि कोई इस-सी न अन्य है
इसी मही-मध्य अनादि-काल से
समस्त तीर्थंकर[1] जन्म ले रहे।

(२)

प्रसिद्ध नि श्रेय[2]स-प्राप्ति के लिए
यही महापावन पुण्य देश है।
यही सदा कर्म-विनाश-कार्य के
लिए तपस्वी सुर भी पधारते।

(३)

हिमाद्रि-विन्ध्याचल-मध्य भूमि में
हुआ समुत्पन्न न जो न धन्य सो।
सुना गया देश पुराण काल से
प्रसिद्धि-सवेष्टित[3] धर्म-क्षेत्र है।

---

[1]जीवन-मुक्त अथवा ईश्वर, भवसागर-तारक। [2]मुक्ति। [3]गक्त अथवा लिपटा हुआ।

(४४)

प्रसन्न लक्ष्मी गृह में विराजती,
तथैव चिंतामणि राज्य-कोष में,
वसी विधात्री[1] मुख-मध्य शोभना,
प्रचड चडी भुज-दंड पै लसी।

(४५)

नरेन्द्र भू पै मलयाद्रि-तुल्य थे
महार्ह[2]-शाखा-सम हस्त में लसी
कृपाण सर्पाकृति[3], जो निकालती
सुकीर्ति का कचुक[4] शत्रु-कठ से।

(४६)

सुधैर्य्य, लावण्य, तथा गँभीरता,
अनूप तीनो गुण है समुद्र मे,
परन्तु जो नेत्र-प्रमोद दे सके
नरेन्द्र-सा विग्रह[5] सो न पा सका।

(४७)

न स्वप्नमे भी गण-मध्य भूप को
विमोचती थी सुभगा जयेन्दिरा[6]
प्रभाव[7] से पूर्ण यथैव कान्त को
न छोटती है वनिता रति-प्रिया।

---

[1]सरस्वती। [2]चदन। [3]सर्प की आकृति की। [4]तन-त्राण, सन्नाह। [5]शरीर। [6]विजय-लक्ष्मी। [7]वर्चस्व।

(४८)

नृपाल थे व्यस्त सदैव आर्त के
विषाद के भजन मे स-कष्ट[1] के,
न शंखपद्मी न गदी[2], परन्तु वे
यथार्थत दो भुज के मुकुन्द थे।

(४९)

सदा द्विजावास[3] तथैव निर्मली
विशाल थे जीवन[4]-धाम राज्य के,
तडाग-से शोभित पद्म-युक्त वे
नरेश तृष्णा हरते अधीन की।

(५०)

नृपाल कालानल शत्रु-पुज को,
लखे गये कल्प-फली[5] कलाढ्य-से,
उन्हे शरीरी रति-नाथ-तुल्य ही
विलोकती थी गृह-इन्दिरा प्रिया।

(५१)

नरेश की कीर्ति अराति-ओक[6] मे,
अरण्य मे, अबुधि मे, अहार्य[7] मे,
लसी अधो-भूतल-अतरिक्ष मे
महा मनोज्ञा बहुरूपिणी-समा।

---

[1]दुःखी (मनुष्य) [2]गदा-युक्त। पक्षी या ब्राह्मणो का निवास।
[4]जल। [5]वृक्ष। [6]गृह। [7]पर्वत।

[मालिनी]

(५२)

जलद-पटल से जो रुद्ध होता नही है,
ग्रसित-ग्रसित होता राहु-द्वारा नही जो,
अपहृत-छवि नारी-वक्त्र[1] से भी न होता
यश-शशधर[2] ऐसा भूप सिद्धार्थ का था।

[वंशस्थ]

(५३)

महीप सिद्धार्थ प्रतापवान की
अनूप भार्य्या त्रिशला मनोरमा
विराजती थी छवि-गेह में शुभा
प्रदीप-सी मंजु प्रदीप-दर्शिनी।

(५४)

गुणान्विता, यौवन-सपदन्विता,
सु-पडिता, वुद्धि-विवेक-शालिनी,
प्रकाशती चद्र-कला-समान थी
नृपाल-चित्तोदधि-मोद-वर्द्धिनी।

---

[1]मुख। [2]चद्रमा।

(१०७)

न इन्दु भी है त्रिशला-मुखेन्दु-सा,
असार सारी कवि-कल्पना हुई,
कटाक्ष-भ्रू-भग कहा सुधागु मे
प्रसाद[1]-कोपादि कहाँ शशाक मे ।

(१०८)

विलोकते ही त्रिशला मुखेन्दु को
नृपाल के नेत्र चकोर हो गये,
परन्तु ज्यो ही क्षण-एक के लिये
पुन विचारा भ्रम व्यक्त हो गया ।

(१०९)

कहाँ प्रिया के मुख की महा प्रभा,
वराक[2] शुभ्रागु[3] कहाँ, न तुल्यता,
कलक से श्रीत्रिशलास्य हीन था
स-दोष दोषाकर[4] विश्व-ख्यात है

(११०)

समुद्र मे जन्म, मलीन प्रात मे,
सदैव न्यूनाधिक, राहु-ग्रस्त भी,
वियोग मे दु खद चक्रवाक को
न अब्ज[5] भी था त्रिशला मुखाब्ज-सा ।

---

[1]प्रसन्नता । [2]बेचारा । [3]चद्रमा । [4]चद्रमा । [5]चद्रमा ।

(१११)

सरोज-द्रोही, रस-शून्य-देह है,
सुगंध से हीन शशांक ख्यात है,
न साम्य पाती त्रिशला-मुखेन्दु का
मलीमसा[1] प्राकृत चंद्र की कला।

(११२)

द्विधा किया चन्द्र विरंचि ने यदा
मनोहरा की रचना कपोल की,
मृगांक[2]-नि[3]ष्यंदित-बिन्दु से तदा
महा मनोज्ञा रदनावली रची।

(११३)

अनूप ताली[4]-दल से मनोज्ञ वे
सु-कर्ण थे शाण कटाक्ष-वाण के।
मनोज्ञ नासा सित-मौक्तिकान्विता,
सुलेख्य तूणीर[5] प्रसून-पुंख[6] का।

(११४)

शशांक के मंडल में सरोज दो
प्ररूढ होते यदि, तो अवश्य ही
कवीन्द्र पाते बहु कष्ट के बिना
महामनोज्ञा त्रिशला-मुखोपमा।

---

[1]मैली। [2]चंद्रमा। [3]निकला हुआ। [4]ताड़-वृक्ष। [5]तरकस। [6]कामदेव।

(११५)

अनेक वेणी[1] घन नागिनी-समा
नितम्ब से लम्बित थी नहीं हुई
सिंदूर-जिह्वा अपनी पसारती
मुखेन्दु-पीयूष-रसावलेहिनी[2] ।

(११६)

न सृष्टि थी प्राकृत अब्ज-योनि[3] की
मनोरमा श्री त्रिशला सुलोचना,
स्वरूप की संपत्ति और ही बनी
अनन्य-चातुर्य-परंपरा-मयी ।

(११७)

अमूर्त, तो भी, कटि मूर्त तन्त्र[4] थी,
अशक्त, तो भी, तरला सु-दृष्टि थी,
अहो, अलंकार-विहीन अंग की
महा मनोहारिणि अंगना लसी ।

(११८)

यथा-यथा भूप बसे हृदब्धि में
तथा-तथा कंज-उरोज भी बढ़े,
यथा-यथा अब्ज-पयोज[5] यों हँसे
तथा-तथा नेत्र-सरोज भी बढ़े ।

---

[1]चोटी । [2]चाटनेवाली । [3]ब्रह्मा । [4]तार । [5]चंद्रमामें उत्पन्न कमल ।

(१९)

नृपाल के निद्रित काम-भाव को
जगा रहे थे उस काल मेघ यों
अतीव थी ऊर्जित-घोषणा-भरी
ज्यों दिशाएँ वह घोर-संयुता ।

(२०)

निसर्ग सारा अति-अंबु-सैन्य में
स-कम्प गीत-स्वर-मस्त हो गया ।
महान नीरन्ध्र-पयोद-व्याज में
विहाय में कम्बल ओढ़ सो गया ।

(२१)

कि निगलाभासित इन्द्र-गोपका
वियोगिनी के वह रक्त-बाण-सी,
विराजती थी महि में इतस्तत
संयोगिनी-चित्रित-चैल-खंड-सी ।

(२२)

उदग्र धारा गिरती पयोद से
कलापियों के गण नृत्य-लीन थे,
अभी करो रखवा-समूह के
इतान्त या कान्त समाप्ति दूर की ।

(२३)

पयोद जैसे निज दान-मान से
बना रहे मुग्ध मयूर-वृन्द को,
तथैव कदर्प स्व-मान-दान से
बना रहा उग्र युवा-समूह को।

(२४)

अनेक-रागान्वित,[1] स्थैर्य्य-हीन भी,
अजस्र दुष्प्राप्य, गुणादि-हीन भी,
नवागना के रस-सिक्त चित्त-सा
बना रहा प्रावृट्[2] इन्द्र-चाप को।

(२५)

लखो, महा धूसर धूलि से हुआ
प्रमोद देता किसको न खेल से,
स-पुत्रिका[3] के पट-सा विलोकिये,
मलीन है अवर वारि-वाह से।

(२६)

महान वर्षा यह हो रही, लखो,
सु-वर्ष[4] से वासर दीर्घ हो रहा,
सभी दिशा, नीर-तरग-युक्त है,
महीप क्यो नीरत-रग[5] हो नही।

---

[1]रग-युक्त। [2]वर्षा-ऋतु। [3]पुत्रवती। [4]वर्षा अथवा वर्ष। [5]काम-हीन।

(२७)

नरेन्द्र भी यौवन-युक्त है तथा
वधू महा-प्रौढ-पयोधरा लसी,
इसीलिए सगम-लालसान्विता
तरंगिणी-सी त्रिशला लसी तभी ।

(२८)

कदम्ब मे मुग्ध-लसे प्रसून है,
प्रसून मे मजु मरद[1] सोहता,
मरद मे लुब्ध मिलिन्द-यूथ है,
मिलिन्द मे भी मदनानुभूति है ।

(२९)

प्रहृष्ट है कामुक चक्रवाक भी,
प्रकृष्ट नृत्यार्दित[2] है कपोत भी,
प्रकर्ष को है पिक प्राप्त हो रहे,
पिकी, कपोती, लख, चक्र-वालिका ।

(३०)

पयोद गर्जे, जल-धार भी गिरे,
तडिल्लता[3] अवर मे अशान्त हो,
महीप को क्या भय था, निकेत मे
प्रिया महा ओषधि-सी विराजती ।

---

[1]पराग । [2]नृत्य से तरल चित्त । [3]बिजली ।

[द्रुत विलंबित]

(३१)

जिस प्रकार पयोधर अक मे
मचलती तडिता अनुरक्त हो,
उस प्रकार समीप नृपाल के
विलसती त्रिशला अति मुग्ध थी ।

[वंशस्थ]

(३२)

महीप बोले प्रिय चाटु-उक्ति[1] से
"प्रिये ! धनुर्धारिणि तू विशिष्ट है,
कलंब[2]-ज्या-हीन शरास[3] से, अहो !
बना रही है मन विद्ध मामकी ।

(३३)

"सु-दृष्टि कृष्णार्जुन[4] से प्रसक्त है,
तथापि जाती यह कर्ण[5]-पास ही,
प्रिये ! नही विश्वसनीय चाल है
विलोचनो की चल-चित्त-वेधिनी ।

---

[1]खुशामद । [2]बाण । [3]धनुष । [4]काला और सफेद अथवा नाम विशेष ।
[5]कान या नाम विशेष ।

(८२)

सु-स्वप्न वर्षा-ऋतु के, अहो ! अहो !
कहो प्रिया के जल-जात कर्ण मे
"त्वदीय प्रेमी-नृप जागरूक[1] है
समीप तेरे अब पाहरू बने ।"

(८३)

"अये कुरगायत-लोचने ! शुभे !
त्रिलोक-सौदर्य्य त्वदीय वित्त है,
गुणावली-शोभित अग-अग मे
अनग का, योषित ! अतरग त् ।

(८४)

"प्रभा शरच्चन्द्र-मरीचि-तुल्य है,
विभा[2] शरत्कज-समान नेत्र की,
शुभा शरद्-हस-समा सु चाल है,
विशाल तेरी छवि वाम-लोचने !

(८५)

"अतीत-स्नेह-स्मृति-सी मनोरमा
पवित्र बाल-स्तुति-सी सु-कोमला[3],
सुमानसी तू नवनीत-पेलवा[4]
नतागि ! कान्ते ! ललिते ! वरागने !

---

[1]जागृत । [2]प्रकाश । [3]कोमल । [4]मुलायम ।

(८६)

"नरेश-भावोद्गत-नीर के लिए
प्रसुप्त तेरा मुख सिंधु-सा बना,
नरेन्द्र की जीवन-ह्लादिनी[1]-गता
प्रफुल्ल है वृत्ति प्रफुल्ल-कज-सी।

(८७)

"समीर से सूक्ष्म विहग-पक्ष है,
कृपीट[2] है सूक्ष्म विहग-पक्ष से,
परन्तु सु-भ्रू अति भूरि-भाविनी
प्रसिद्ध है सूक्ष्म कृपीट-योनि[3] से।

(८८)

कहा गया है, प्रमदा-अपाग ने
गिरा दिया मानव को द्यु-लोक से,
परन्तु वामा-हृदयाब्ज ने, अहो!
सदा बनाया दिव[4]-तुल्य भूमि को।

(८९)

"प्रफुल्लता और पवित्रता, तथा
विशुद्धता, शाश्वत प्रेम-भावना,
कहे गये जो गुण स्वर्ग-लोक के
लखे गये वे ललना ललाम मे।

---

[1]तडाग। [2]धुआँ। [3]अग्नि। [4]स्वर्ग।

(९०)

'सुलक्षणा तू निज चाल-ढाल में,
सुदेवता तू निज अंग-ढंग में,
उषा-समा अंबर[1] से ढकी हुई
प्रकाश-सी अंबर[2] में विराजती।

(९१)

"यथैव तू सुन्दर त्यों सु-मिष्ट है,
यथैव है मिष्ट, तथैव कोमला;
यथैव तू कोमल दिव्य भी तथा,
यथैव दिव्या उस भाँति देवता।

(९२)

'विरंचि की केवल तू न चातुरी,
वरंच है मानस-मूर्ति मामकी;
नतभ्रु! अर्द्धांगिनि तू बनी यथा
तथैव मेरा मृदु अर्द्ध-स्वप्न तू।"

(९३)

नरेश, यों ही कुछ देर रात्रि में
प्रसुप्त-वामांग निहारते रहे,
प्रगाढ़-तन्द्रा-वश मौलि-मध्यगा
अवंव-वेणी-छवि धारते[3] रहे।

---

[1]आकाश। [2]कपड़ा। [3]धारण करते।

(९४)

ललाट मे आगत स्वेद-बुन्द भी
नरेश हाथो परिहारते रहे,
हटा-हटा आनन से अजस्र ही
मिलिन्द की भीड निवारते रहे ।

(९५)

मृगांक-से आनन पै पडी हुई
पयोद-माला-सम केश-राशि को
सहेजते[१] भूपति बार-बार यो
स-जृभ[२] शैथिल्य-समेत सो गये ।

[द्रुतविलंबित]

(९६)

मनुज जागृति मे रत-धर्म है,
विगत-कर्म तथैव सुषुप्ति[३] मे,
यदि कही सुख-स्वप्न प्रतीत हो
वह भविष्य-विधान[४]-समर्थ है ।

---

[१]सम्हालते । [२]जम्हाई लेकर । [३]निद्रा । [४]निर्माण ।

(४४)

शशाक के और फणीन्द्र-धाम के
सु-मध्य मे शोभित दो विमान थे,
कपोत के युग्म-समान दूर से,
समीप से दो गृह-तुल्य जो उड़े।

(४५)

मृगेन्द्र कूदा पहले विमान से
द्वितीय से भी वृप[1] भूमि पै गिरा
चला वलीवर्द[2] स-दूर्व भूमि को
स-शब्द शैलाट[3] अरण्य को गया।

(४६)

पुन गिरे दो स्रग[4] यान-युग्म से
अलात[5]-माला-सम चक्र-युक्त हो,
गिरे जभी भू पर शब्द-हीन वे
दिखा पड़े दो घट माल्यवान[6] थे।

(४७)

उसी घड़ी सूर्य्य उदीयमान हो
मनोज्ञ प्राची दिशि को प्रकाशता
दिखा पडा चक्रम-युक्त सामने
समस्त भू को करता प्रदीप्त था।

---

[1]बैल। [2]बैल। [3]सिंह। [4]माला। [5]चरखी-। [6]माला-युक्त।

(४८)

मरीचियाँ उत्थित सूर्य्य-देव की
बना रही थी अनुरजिता[1] धरा,
समस्त कासार, सरोज-पुज से
ढके हुये पीत पराग से, लसे।

(४९)

महान आश्चर्य्य हुआ उन्हे जभी
प्रफुल्ल देखे सर मे सरोज, जो
निशा तथा वासर मे पृथक्-पृथक्
प्रकाशते हैं, पर सग-सग है।

(५०)

पुन वही श्वेत गजेन्द्र पूर्व मे
लखा गया जो त्रिशला ललाम से
सरोज-सा, भृग-समान व्योम में,
उठा बृहत्काय, बना गिरीन्द्र-सा।

(५१)

पुनश्च हो सो लघु अतरिक्ष मे
मिलिन्द-सा आ त्रिशला-समीप ही
नृपेन्द्र-जाया-मुख-कज मे धँसा
यथैव भावी[2]-सुत-सूचना, शुभा।

---

[1]प्रसन्न। [2]होनेवाले।

(५२)

तुरन्त वन्दी-जन गान गा उठे,
मृदग वीणा वहु वाजने बजे
समेत-आनद्ध[1]-सुषीर[2] झल्लरी
वजी, जभी पुण्य-प्रभात आ गया ।

(५३)

"उठो, उठो, देवि प्रभात हो गया
करो सभी सत्वर योग्य कार्य, वे
समृद्धि की जो तति[3] वश मे करें
अशेष कल्याण त्रिलोक में भरे ।

[द्रुतविलंवित]

(५४)

"जिस प्रकार, शुभे ! दिशि पूव के
उदर-मध्य दिनेश छिपा हुआ,
निहित है सुत यो तव कुक्षि[4] मे
सकल लोक-प्रकाशिनि ज्योति ले ।

(५५)

"अपगता[5] भव-यामिनि हो चली,
उदय है शुभ ज्ञान-प्रकाश का,
अलस-अवर त्याग उठो, उठो ,
जग गया जग मे जन धन्य सो ।"

---

[1]ताल देनेवाले बाजे, तवला, मृदग आदि । [2](सुषीर) मुहसे बजनेवाले बाजे । [3]प्रसार । [4]कोख, उदर । [5]व्यतीत ।

(४३)

"सदैव अर्हंत-स्वरूप अर्क के
प्रकाश होते भव-व्योम-अंक में,
महा कुलिंगी[1] खल-तस्करादि भी
प्रतीत होते द्रुत भागते हुये।

(४४)

"तथैव साम्राज्ञि! जिनेन्द्र-अर्य्यमा[2]
स्वकीय सबोधन-अंशु से मुदा
समस्त-प्राणी-भव के विनाश को
स्व-जन्म लेते तव देवि! कुक्षि में।

(४५)

"तथैव तीर्थंकर शुद्ध ज्ञान की
गभस्तियों[3] से कर धर्म-मार्ग को
प्रशस्त, पाते पद अंतरिक्ष में
सु-लोचने! लोचन लोक-लोक के।

(४६)

"तथैव तीर्थंकर वाक्य-अंशु से
सदा खिलाते मन-कंज साधु के,
तथैव तीर्थेश्वर शब्द-रश्मि से
विनाशते काम-कुमोद[4] संत के।

---

[1]कुलक्षणी। [2]सूर्य्य। [3]किरणें। [4]दुःख या कुमुद।

(४७)

"अत उठो, हे त्रिशले ! जगो-जगो,
विलासिनी-मंडल-मान-मर्दिनी !
प्रबुद्ध हो, सप्रति शुद्ध हो, शुभे !
कुरंग-नेत्रे ! ललिते ! मनोरमे !

(४८)

"प्रभात मे श्रावक-श्राविका सभी
अजस्र-सामायिक-दत्त-चित्त हो,
प्रसक्त हो कर्म-अरण्य-होम[1] मे,
सदा उठाते ध्रुव धर्म-धूम है।

(४९)

"अनेक सपूजित-पच-देवता
प्रवृत्त होते व्रत-जाप मे मुदा;
परन्तु जो चित्त-निरोध-लग्न, वे
निलीन होते सुख-सिधु ध्यान में।

(५०)

"तथैव जो धीर विमुक्ति-प्राप्ति के
लिए, न लाते ममता शरीर पै,
प्रवृत्त व्युत्सर्ग[2]-तपादि में वही
विनाशते कर्म, विमोक्ष साधते।

---

[1]जलाना। [2]त्याग।

(५१)

"अत उठो, हे त्रिशले ! सुलोचने !
नरेन्द्र-जाये ! पति-भक्ति-तत्परे !
प्रसक्त हो सत्वर धर्म-ध्यान में
पवित्र आदर्श-चरित्र आप हैं।"

(५२)

मनोरमा श्रोत्र[1]-सुखावहा तभी
हुई महा-मगल-गीति, कामिनी
प्रबुद्ध होके, शयनाक छोड़के
उठी, लगी नित्य-निमित्त-कार्य्य मे।

(५३)

विशाल-नेत्रा हरिणी-समान सो,
सुधाशु-आस्या रजनी-समान सो,
उठी चली यो त्रिशला मदालसा
सु-मद-पादा करिणी-समान सो।

(५४)

समेत-कल्याणक नित्य की क्रिया
समाप्त सामायिक आदि ज्यो हुये,
निवृत्त हो सत्वर प्रातराश[2] से
गयी सभा-मध्य सखी-समेत सो।

---

[1]कान । [2]प्रभात का भोजन ।

(२०)

निविष्ट हो पंजर मे मराल ज्यो
हिमाद्रि के कदर मे यथा नखी
प्रवीर- ज्यों कुंजर के वरंड[1] मे
तथा शशी अवर मे प्रविष्ट था।

(२१)

कि व्योम-वापी[2]-सित-पुंडरीक था,
कि मार-शाणोपल[3] ही विराजता
कि रात्रि-वामा-कर-रिक्त गेंद-सा
शशाक कूदा नभ-वप्र[4] मे तदा।

(२२)

नभोल्लता-कुंज-उपागता तथा
प्रमोद - पर्य्याकुल - तारका - मयी
निशागना की तम-पूर्ण कचुकी
स-वेग खींची कर से शशाक ने।

(२३)

मयूख[5]-लेखा प्रथमा शशांक की,
कि रात्रि की कुंकुम-चर्चिका लसी[6],
प्रवाल की पक्ति अशोक-व्योम की,
कि मार की थी मणि-कुंत-वल्लरी।

---

[1]हौदा। [2]कूप। [3]शान रखने का पत्थर। [4]मैदान। [5]किरण। [6]लसी, लगी

(२४)

त्रिलोक के मोहक अधकार को
सदैव, नित्य-प्रति, खा रहा शशी,
इसीलिए उज्ज्वल-देह-कुक्षि[1] मे
समूढ अधतम है, विलोकिये।

(२५)

कि प्रेम से तामस-केश-पाश को
मरीचि की अगुलि से हटा-हटा,
विलोकिये, सपुटिताब्ज-लोचना
निशा-वधू का मुख चूमता शशी।

(२६)

विलासिनी-आनन कुज-कुज मे
विलोकता है हँसता हुआ शशी,
प्रसारता है कर जाल-जाल मे
मनोज्ञता की वह भीख माँगता।

(२७)

महीध्र[2] कैलाश हुये समस्त है
सभी पलाशी[3] सित-आतपत्र[4] है,
समुद्र सारे पय-सिधु से लसे,
कु-पक भी है दधि-तुल्य राजता।

---

[1]कोख। [2]पर्वत। [3]वृक्ष। [4]छतरी।

(२८)

शशाक प्रत्येक निशान्तराल[1] में
स्वकीय गाथा कहता धरित्रि से,
कि जन्म कैसे इस पिंड का हुआ,
कि कीर्ति कैसे बढती सु-कर्म से।

(२९)

प्रपूर्ण राकेश नभो-निकुज से
विकीर्ण[2] जोत्स्ना करता समतत,
समीर मानो गति से शनै शनैः
प्रगाढ निद्रावश हो रहा, अहो!

(३०)

शशाक-जोत्स्ना चलती सुमेरु से
महीरुहो से छनती धरित्रि में,
नदी बहाती तल मे प्रकाश की,
बढा रही प्रेम निशा ललाम से।

(३१)

उगा नही चद्र, समूढ प्रेम है,
न चाँदनी, केवल प्रेम-भावना,
न ऋक्ष है, उज्वल प्रेम-पात्र है,
अत हुआ स्नेह-प्रचार विश्व मे।

---

[1]रात्रि के मध्य का समय। [2]प्रसरित।

(८४)

"वहित्र-सा जीवन मध्य-रात्रि के
पडा रहा चद्र-विहीन सिंधु में,
मिला न दिग्सूचक-[1]यत्र सा जभी
प्रिये ! तुम्हारा कर, मै दुखी रहा।"

(८५)

"प्रकाश से शून्य अपार व्योम मे
उडी, बनी आश्रित-एक-पक्ष मै
मिला नही, नाथ ! द्वितीय पक्ष-सा
जभी तुम्हारा कर मे दुखी रही।"

(८६)

"प्रताप से, जीवन से, प्रकाश से
प्रिये ! सदा हो अति प्रेयसी मुझे,
वहा कभी था अनुराग-उत्स जो
प्रवाह-संयुक्त अजस्र[2] हो रहा।"

(८७)

"समीर-सी प्रेम-तरग है, प्रभो !
न ज्ञात है आगम-निर्गम-स्थली,
अवाध[3] तो भी वहता प्रवाह है
नसो-नसो में मुझ प्रेम-प्राण के।"

---

[1]कम्पास। [2]निरतर। [3]अप्रतिहत-गति।

(८८)

"दुरूह है प्रेम-रहस्य जानना,
न ज्ञात है कंटक है कि डक है,
कि अग्नि हो वाडव की, मनोरमे !
सुखा रही जीवन[1] विश्व-सिंधु का।"

(८९)

प्रभो ! मुझे ज्ञात कदापि है नही,
सुधाक्त[2] है . प्रेम, विषाक्त वस्तु या,
अनादि-माधुर्य्य-भरी विभूति है,
अनन्त-काकोल[3]-मयी प्रसूति है।

(९०)

"समक्ष स्वर्गीय---प्रभाव प्रेम के
समृद्धि सारी अति तुच्छ भूमि की,
न प्रेम के है अतिरिक्त प्रेम का
सुना गया मूल्य समस्त विश्व मे।

(९१)

"समस्त वृन्दारक[4] देव-धाम के
विनाश दे अतर देश-काल का,
सुरेश दो प्रेमिक-प्रेमिका मुदा
हिला-मिला दे, मम प्रार्थना प्रभो !"

---

[1]जल। [2]अमृत-सिंचित। [3]विष। [4]देवता।

(९२)

"प्रिये ! सदा सुन्दर प्रेम-भावना
प्रपूर्णता है नियमानुवृत्ति[1] की,
कि द्वैत[2] का तात्त्विक मूल-रूप है
कि एकता है युग चित्त-वृत्ति की ।"

(९३)

"विभावना[3] ईश-प्रदत्त प्रेम की
कही अनैसर्गिक सपदा गयी,
विलोचनो के, प्रभु ! एक वुन्द में
प्रतीत सारी वसुधा लखी गयी ।"

(९४)

"रहस्य से पूर्ण सहानुभूति है,
कि प्रेमियो के मन की प्रसूति[4] है,
प्रिये ! मुझे प्रेम-स्वरूप भासता
सु-लभ्य भू मे विभु की विभूति है ।"

(९५)

"प्रभो ! सदा यौवन-पूर्ण प्रेम की
वसन्त-शोभा जग मे वनी रहे ।"
"प्रिये ! सदा प्रेम-रसावलम्बिनी
लगी झडी प्रावृट्[5] की घनी रहे ।"

---

[1]नियम पालने की प्रवृत्ति । [2]द्वैतीभाव । [3]विचार । [4]जन्म । [5]वर्षा ।

(९६)

"सभी प्रजा शासित प्रेम-भूप से
विलोकिये मर्त्य-अमर्त्य-लोक मे,
कि प्रेम ही, हे प्रभु ! देव-लोक है,
कि स्वर्ग ही अन्य स्वरूप प्रेम का ।"

(९७)

"प्रिये ! सदा प्रीति प्रशान्ति-काल की
बनी स-शक्ता परिवादिनी[1]-समा,
अशान्ति मे भ्रान्ति-हयाधिरोहिणी[2]
सँवारती आकृति क्रान्ति-कारिणी ।"

(९८)

"न प्रेम को नाथ ! प्रतीति अन्य की,
स्वकीय जिह्वा करता प्रयुक्त है,
प्रवृत्त हो दो दृग बातचीत में
कदापि मध्यस्थ न चाहिए उन्हे ।"

(९९)

"कराह प्रेमी हृदयाब्धि से, प्रिये !
उठी, बनी पुण्य-पयोद-मडली ।
तथैव प्रेमाग्नि क्षण-प्रभा बनी,
दृगम्बु-बुन्दावलि धार-सी गिरी ।

---

[1]वीणा । [2]भ्रान्ति के घोड़े पर सवार ।

(१२)

नवांगना की रति-कामना-समा,
तथैव लज्जा इव प्रौढ़ नारि की,
कि स्वैरिणी[1] की नियमानुवृत्ति-सी
अदृश्य होती क्षण में दिन-प्रभा।

(१३)

स-भास यो कोरक[2] कुंद-पुष्प के
विराजते पल्लव-अंतरिक्ष में,
यथैव हो गीत-विभीत तारिका
छिपी हुयी कुंद-लता-समूह में।

(१४)

दिनेश का आतप मंद हो गया,
निशेश की भी अति शीत चंद्रिका,
महान व्यापा शिशिरर्तु-शैत्य यो
न अग्नि मे तेज रहा विशेष था।

(१५)

निवेश-वातायन-काच-पीठ पै
तुषार[3] के चित्र विचित्र हो गये;
सुकर्णिका[4] के, सरसीरुहादि के
अनूप थे गुच्छक-से लसे हुये।

---

[1]पुश्चली स्त्री। [2]कलियाँ। [3]पाला। [4]गुलाब।

(१६)

तुषार पै वज्र-कपाट बंद हो,
निवार दे पुष्ट छते समीर को,
हिमांशु वातायन से न आ सके,
प्रयत्न-सा था त्रिशला-निवेश मे।

(१७)

प्रभात मे पादप-शृग पै गिरे,
बने रहे, पुष्कल[1] ओस-बुद यो,
रहे दिखाते निज सप्त-रग वे
नरेन्द्र-जाया जबलौ जगे नही।

(१८)

प्रसून सोते हिम-खड के तले
वसन्त के स्वप्न विलोकते हुये,
पड़ी प्रसुप्ता त्रिशला-निवेश में
लिए हुये एक रहस्य गर्भ मे।

(१९)

अतद्र-नि श्वास प्रभात जानके
तुषार के शायक छोड़ने लगी,
विदारती है हृद[2] शीत-रात्रि का
निशान्त-कारी रवि की शरावली।

---

[1]अधिक सख्या में। [2]हृदय।

(२०)

"जगो, जगो, देवि ! प्रभात हो गया,
उषा समाप्त हुई निशान्त पै,
जगज्जयी केवल एक काल है,
अत उठो, हे समयानुवर्तिनी[1] !"

(२१)

सुनी सु-वाणी सखि-वृन्द की मुदा
जगी मनोज्ञा त्रिशला प्रभात में
परन्तु शीतर्तु उषा-समान ही
अनल्प[2] लेटी निज तल्प[3] में रही।

(२२)

कठोर-गर्भा त्रिशला विलोक के
स-प्रेम आयी सखियाँ समतत,
मनोज्ञ प्रश्नोत्तर से स-मोद वे
लगी रचाने बहलाव चित्त का।

(२३)

दिवौकसी, सुन्दरि, छद्मवेषिणी
स-तर्क शका करने लगी सभी,
जिनेन्द्र-गर्भ-स्थित है कि अन्यथा
लगी परीक्षा करने अनेकश।

---

[1]समय के अनुसार अनुवर्तन करनेवाली। [2]बड़ी देर। [3]झूला।

(२४)

"विरक्त हो कामुक जो महान है,
निरीह[1] है, इच्छुक है अवश्य जो,
नरेन्द्र-जाये ! त्रिशले ! शुभे ! अहो !
कहो परात्मा प्रभु कौन विश्व मे ? ।

(२५)

"अदृष्ट है कौन, तथापि दृष्ट है ?
स्वभाव से निर्मल कौन लोक मे ?
महार्ह[2] है किन्तु न देव-रूप है ?
दयार्द्र है, देह-दया-विहीन है ?"

(२६)

नृपालिका ने सब प्रश्न यो सुने,
दिया नही उत्तर व्यक्त रूप से,
परन्तु होके नत-लोचना मुदा
विलोकने कुक्षि लगी मदालसा ।

(२७)

"अगाध-संसार-पयोधि मे, शुभे !
न डूबने दे वह पोत[3] कौन है ?
नृपाल-भार्य्ये ! कृपया बताइए,—
"वहित्र[4] अर्हत–पदारविन्द का" ।

---

[1]इच्छा-हीन । [2]महँगा, दुर्लभ । [3]नाव । [4]जहाज़ ।

(७६)

विपचि ! तेरे तनु[1] एक तार ने
हिला दिया राग-विहीन गर्भ भी,
यही प्रशसा भवदीय न्यून क्या
कि जो पुन लीन हुई स्व-राग मे ।

(७७)

न देव होते अभिभूत क्यो, शुभे !
सँगीत देवालय-योग्य वस्तु है,
न युक्त संगीत-प्रभाव से हने
कुरंग को व्याध, अमाप[2] पाप है ।

(७८)

लिखा गया दिव्य सँगीत सर्वदा
दिगंत-पृष्ठो पर नाक-लोक के;
कहा गया है उस शब्द में कि जो
प्रसिद्ध भाषा सुमना[3]-समाज की ।

(७९)

समोद गावो अतएव, देवियो !
निरतरास्वादन-दत्त-चित्त हूँ,
विधान सौधर्म्म-महेन्द्र का यही,
सँगीत है दान महान ईश का ।

---

[1]कोमल । [2]अत्यन्त । [3]देवता ।

(८०)

विपचिके[1] धात्विक शब्द तावकी[2]
विमोहते जीवित-भृग-मंडली,
मनोरमा है ध्वनि भासती मुझे
सुकोमला नाद-कला अकथ्य है।

(८१)

सरस्वती लेकर बीन स्वर्ग में
निसर्ग के आदिम-काल मे पुरा
लगी जभी सुन्दर गान छेड़ने
हुई स्वयभू-श्रुति अष्ट-श्रोत्र[3]की।

(८२)

निनाद होता अति शुष्क पर्ण मे,
अजस्र गाती सरि-धार गीति है;
मनुष्य के हो यदि कान, तो सुने
सँगीत व्यापा वन-अद्रि-व्योम मे।

(८३)

सँगीत आत्मा त्रसरेणु[4]-व्यापिनी
त्रिलोक-स्रष्टा विभु से रची गयी;
प्रसिद्ध भू मे श्रुतियाँ न चार ही
वरच द्वाविशति[5] है, अनन्त है।

---

[1]तेरे। [2]ब्रह्मा-। [3]वह कण जो वायु में अदृष्ट उडते रहते है। [4]बाईस।

(८४)

अहो! तुम्हारे, सखियो! सँगीत से
प्रसन्न आत्मा मम हो रही मुदा,
द्यु-लोक-गामी रथ पै सवार-सी
जिनेन्द्र-मार्गाभिमुखी बनी अभी।

(८५)

सुनी तुम्हारी मृदु गीतिका जभी
पयोद आये घिर प्राच्य[1]व्योम में,
अहो! तुम्हारे पट से सुरग ले
उगा, हुआ सुन्दरि! इन्द्र-चाप है!

(८६)

हुई प्रतीची अनुरजिता, तथा
प्रसन्न होता रवि अस्तमान है,
विमुग्ध प्राची-घन मे उगा हुआ
सुरेन्द्र-कोदड[2] विराजमान है।

(८७)

नही रंगो से यह है बना हुआ
न स्वर्ण से, पारद से न ताम्र से,
स-जीव कोई घन तत्त्व है कि जो
प्रशस्त स्वर्गीय महत्त्व-युक्त है।

---

[1]पूर्वीय। [2]धनुष।

(२८)

"बजा जभी अश्रुत[1] काल-यंत्र तो
झुका दिया शीस प्रसून-वृन्त ने
विलोकिये, है कहते उसे, शुभे !
तुरन्त सर्वेश-निदेश-पालना ।

(२९)

"हिरण्य-वर्णे ! सुमने[2] सुर-प्रिये !
अये जनेष्ठे[3] वन-चद्रिके ! सहे !
अये सुगधे ! अयि चद्र-वल्लिके[4] !
वसन्त ने स्वागत प्रेम से किया ।

(३०)

"प्रभात-ओस-स्नपिता[5] कुमारिका
समीर-सचालित हेम-यूथिका
भ-चक्र-सपोषित स्वर्ण-जातिका
खिली हुई चित्र-अरण्य[6]-अक मे

(३१)

"न ज्ञात है कौन प्रसून प्रेय है,
न जानती सुन्दर पुष्प कौन है,
सहा[7], गवाक्षी[8] अथवा शिखडिनी[9]
कि मालती, माधविका कि मल्लिका।

---

[1]जो न सुना जा सके। [2]चमली। [3]वेला। [4]माधवी। [5]स्नान किये हुये। [6]फुलवाडी। [7]गुलाब। [8]वेला। [9]जूही (सफेद)।

(३२)

"कपोल-आरक्त गुलाब के लसे
पिशग[1] सारी पहने वसन्तजा[2]
वरांगना है, यह शीतल-च्छदा
प्रसन्न सर्वांग-समुज्वला सिता।

(३३)

"प्रसून-भाषा - हृदयानुमोदिनी
अबोध को भी अति बोध-गम्य है,
प्रसून-शोभा चढ कूट-शृग पै,
बिछा रही तारक-राशि व्योम मे।

(३४)

"प्रसून-भाषा मृदु प्रेम की कथा,
प्रसून-माला युग प्रेम की कथा,
प्रसून-वर्षा सुर-प्रेम की कथा,
प्रसून-आभा प्रभु-प्रेम की कथा।

(३५)

"विशाल वल्ली-वन मे, वनान्त मे,
दिवा-उडु-स्तोम[3] प्रसून-गुच्छ मे,
विहीन हो जो कि अपांग-पात से
मुखेन्दु तेरा त्रिशले! विलोक ले।

---

[1]पीली। [2]नेवारी। [3]दिन मे उगे हुये नक्षत्रो का समूह।

(३६)

"विलोकने को तुमको, नृपालिके !
अजस्र जागी नव रात कर्णिका,
उषा-समा आनन की प्रभा लखे
हुयी सहर्षाश्रु मग्ना, न ओस है।

(३७)

"कि अम्बिका-लोचन-रञ्जनार्थ ही
खिले हुये वारिज हैं तड़ाग में,
कि अम्बिका-लोचन-साम्य के लिये
उगे हुये हैं सर में सरोज ही।

(४०)

सहेलियो के सग मे यहाँ-वहाँ
विलोकती थी त्रिशला प्रसन्न हो
चली न डोली निज गर्भ-भार से
प्रशान्त बैठी लखती सुदृश्य थी ।

(४१)

समीप ही एक गुलाब-वृक्ष था,
प्रसून फूले जिसमे अनेक थे;
नृपालिका-स्वागत-हेतु प्रेम से
प्रसारता था अपनी सुगंध जो।

(४२)

समीर की एक तरग ने कहा,
"समीप उत्फुल्ल गुलाब-वृक्ष है"
मिलिन्द के मंद निनाद ने कहा,
"यही कही पास गुलाब-पाश[1] है।"

(४३)

न पखड़ी शाश्वत[2] है गुलाब की,
दशा न है केसर की सनातनी,
परन्तु तो भी इसकी सुगध मे
चिरतनी अस्थिरता अवश्य है।

---

[1]गुलाब का जाल, झाड़ी। [2]सनातनी

(९२)

"मनुष्य मिथ्या-मति-अघ-कूप में
पडे हुये जो, उनको उवारने
पधारते है निज-धर्म-हस्त से
प्रकाम देने अवलम्ब विश्व को।

(९३)

"पवित्र वाणी जिनकी अजस्र ही
अनूप देगी उपदेश विश्व को,
विनाशकारी बहु-भाँति कर्म के
जिनेन्द्र है भूतल मे पधारते।

(९४)

"प्रसिद्ध जो धर्म-प्रवृत्ति-हेतु है,
अपार-ससार-समुद्र-सेतु है,
समुच्च जो ज्ञान-अनीक[1]-केतु है,
पधारते है महि मे जिनेन्द्र वे।

(९५)

"उठो, उठो, सत्वर प्राणियो! उठो,
प्रवृत्त हो आश्रित[2] जीव धर्म में,
हुआ सभी का भव[3] नष्ट विश्व मे,
महान सौभाग्य उदीयमान है।

---

[1]सेना। [2]अधीन। [3]अंधकार।

[द्रुतविलंबित]

(९६)

मनुज को अति दुर्लभ सूनु है,
सुत कि जो मति-मान प्रसिद्ध हो
श्रुति-'विहीन वृथा मति जीव की
अवधि-ज्ञान'-विना श्रुति भी वृथा ।

आठवाँ सर्ग

(४४)

'अघाख्य'[1] दर्पी अहि की प्रशान्ति भी
अवश्य होना अवशिष्ट है अभी,
अपूर्ण आशीविष[2] काल-कूट से
प्रपूर्ण देता भय जो त्रिलोक को।"

(४५)

भविष्य-वाणी सुन अंतरिक्ष की
समस्त मिथ्या-मत भागने लगे,
अतथ्य ज्योतिर्विद मूक हो गये,
असत्य-भाषी फलितज्ञ मौन थे।

(४६)

सदैव हिंसा-प्रिय वाम-मार्ग के
गये प्रचारी सब भाग भूमि से,
कु-ग्रन्थ ले ले निज वाम-कुक्षि में
किसी गुफा में गिरि की समा गये।

(४७)

स्वतंत्र जो मान्त्रिक[3] दुष्ट धर्म के
रचा रहे थे वध जीव-जन्तु का
सभी अभी वे तज हेति[4] हस्त से
छिपे कहीं भैरव-चक्र त्याग के।

---

[1]अघ नाम का। [2]सर्प। [3]मन्त्रज्ञ। [4]हथियार।

(४८)

निशेश के सम्मुख अधकार ज्यो,
दिनेश के सम्मुख भूत-प्रेत ज्यो,
जिनेश के सम्मुख वाम-कर्म[1] त्यो
चला गया शीघ्र पलायमान हो।

(४९)

नरेश के प्रागण[2]-मध्य प्रात से
मृदग-वीणा-ढफ-मोरचग ले
सगीत मे गायक-गायिका लसे
स्व-नृत्त मे नर्तक-नर्तकी पगे।

(५०)

नृपाल-आनद-समुद्र-वीचियाँ
तुरन्त फैली सब ग्राम-ग्राम मे,
सभी प्रजा हो मुदिता इतस्तत
जिनेन्द्र-जन्मोत्सव थी मना रही।

(५१)

हिरण्य, हीरा, हय, हस्ति, हेम ले
नृपाल थे यानक-वृन्द तोषते,
स्व-सेवको को बहु दान-मान दे
अनाथ को भी करते स-नाथ थे।

---

[1] वाम-मार्ग के कर्म। [2] आँगन।

(५२)

ध्वजा, पताका, स्रग, तोरणादि से
सजा हुआ मंदिर भूमि-पालका
प्रतीत था गायन-नृत्य-वाद्य से
धरित्रि मे सस्थित नाक[1]-लोक-सा।

(५३)

महा-समारोह-मयी सभा लगी
जुड़े कलाकार नृपाल-राज्य के,
दिखा दिखा वे अपनी विशेषता
सभी मनोरंजन में निमग्न थे।

[द्रुतविलंबित]

(५४)

यह समुत्सव आनन्द-उत्स[2] को
प्रवल था करता इस भाँति से
जिस प्रकार सु-मूल्य सुवर्ण का
शुचि-सुगंध वढा सकती सदा।

[वंशस्थ]

(५५)

उसी घडी नर्तक एक आ वहाँ
दिखा चला कौशल स्वीय नृत्य का,
जिनेन्द्र-जन्मोत्सव-दृश्य बाँध के
सभी किये नाटक पूर्व-जन्म के।

---

[1] स्वर्ग। [2] झरना।

[वंशस्थ]

(१)

शनै शनै अष्टम वर्ष भी गया,
कुमार पौगड[1]-दशाधिरूढ थे,
प्रभूत-शारीरिक-कान्ति-युक्त वे
पवित्र वाणी-मन-कर्म से बने।

(२)

विभूषणो से, व्रत-शील-आदि से,
सभी गुणो से परिपूर्ण शोभते,
समस्त विज्ञान, सभी कला उन्हे
अवाप्त हस्तामलकत्व[2] को हुई।

(३)

सभी सखा-सग कुमार एकदा
चले, गये बाहर खेलते हुये,
निदाघ[3] का उष्ण प्रभात-काल था,
अरण्य था सुन्दर राजता हुआ।

---

[1]पाँच से दश वर्षकी अवस्था। [2]हाथ में आँवलेके समान।
[3]ग्रीष्म-ऋतु।

(४)

सदावगाहक्षत[1] वारि-राशि मे
प्रचंड थे भानु सहस्र-भानु के,
नितान्त दुष्प्रेक्ष्य[2] प्रतप्त व्योम था
महान-कोपाकुल-भूप-आस्य-सा ।

(५)

कही घने भू-रुह नीप[3] क तले
मयूर बैठे दिन काटते लसे,
कही किसी शाद्वल[4] में विराजते
कुरग थे सग कुरंगिनी लिये ।

(६)

अरण्य के माहिप पंक जान के
स्वकीय छायाश्रय ढूँढने लगे,
अलक्त गुंजा लख रक्त-बुन्द-सी
स-भ्रान्ति थे वायस चंचु डालते ।

(७)

करेणु[5] खाता फल सल्लकी मुदा,
वरेणुका[6] थी उसको खिला रही,
समीप ही वारण गर्जते हुये
बना रहे कानन शब्द-युक्त थे ।

---

[1]मदा नहाने के कारण उच्छल । [2]कठिनता से देखा जाने वाला ।
[3]तमाल । [4]हरी-भरी भूमि । [5]हाथी का बच्चा । [6]हथिनी ।

(८)

प्रचड-मार्तण्ड-प्रताप-पुज से
विभीत हो हस सरोज के तले
स-ताप ले शीत मृणाल[1] चंचु मे
बिता रहे थे दिन ग्रीष्म-काल के ।

(९)

कही-कही हंस तडाग-तीर पै,
महान गंभीर जहाँ कमन्ध[2] था,
वही प्रसन्ना ध्वनि थे सुना रहे
विलासिनी-नूपुर-तुल्य मंजुला ।

(१०)

कही दुखी-चित्त-प्रतप्त थी धरा,
कही मही थी खल-वाक्य-दाहिनी,
परन्तु धात्रीरुह[3]-पाद-मूल को
अपासुला-सी तजती न छाँह थी ।

(११)

अरण्य गभीर अशब्द से कही,
कही महाक्रोश[4]-युता वनस्थली,
कही महा घर्म-प्रतप्त मेदिनी,
कही धरा शीतल नीप-छाँह मे ।

---

[1]कमल-नाल । [2]जल । [3]वृक्ष । [4]शब्द, हल्ला ।

(६४)

"विलोकता पूर्ण शशांक व्योम को
अनभ्र[1] जो, नीलिम जो, प्रशांत जो,
प्रकाशता दीप्त दिनेश भूमि को
प्रबुद्ध जो, सुन्दर जो, प्रसन्न जो।

(६५)

"परन्तु भू से, नभ से, दिगन्त से,
अहार्य से, कानन से, चतुष्क[2] से,
प्रभूत कोई सुषमा शनैः शनैः
चली गयी-सी प्रतिभात हो रही।

(६६)

"स-मोद गाते पिक आम्र-वृक्ष पै
मयूर आनदित नृत्य-लीन है,
प्रमोद सर्वत्र विराजमान है,
परन्तु मेरा मन दुःख-पूर्ण है।

(६७)

"प्रपात होता जल का महीध्र[3] से,
कदापि मेरे दुख से न रुद्ध है,
वितुड[4] का नाद हुआ वनान्त में
धरित्रि आमोद-प्रपूर्ण हो रही।

---

[1]बिना बादल का। [2]खेत। [3]पर्वत। [4]हाथी।

(६८)

"चतुर्दिशा दृश्य वसन्त-काल के
वनश्री में एक प्रमोद जो रहे,
परन्तु कैसा अवसाद' चित्त में
उठा, मुझे जो सब भाँति खो रहा ?

(७२)

"परन्तु केदार[1] तथैव वृक्ष भी
यही कहानी कहते स-दुःख हैं,
कि सौख्य-कारी दिन वे चले गये,
मिली हमें सु-स्मृति[2], स्वप्न खो गया !

(७३)

"विचारता हूँ यदि मैं प्रशान्त हो,
न जन्म ही व्यक्त, न व्यक्त मृत्यु ही,
नितान्त अज्ञेय, न भूति-[3]गम्य है
मनुष्यके जीवन का रहस्य भी।

(७४)

"अतीत मे जीवन-तारिका-समा
मदीय आत्मा जब स्वर्ग से चली
नितान्त थी सु-स्मृति से न नग्न[4] ही,
स्व-कर्म की पुच्छल ज्योति सग थी।

(७५)

"मनुष्य-आत्मा उस दिव्यलोक से
जभी पधारी महि मे स्व-कर्म से,
चली सु-छाया उस ऊर्ध्व लोक की,
तभी समाच्छादित[5] हो शिशुत्व पै।

---

[1]खेत। [2]स्मरण-शक्ति। [3]अनुभव-गम्य। [4]विना, रिक्त। [5]ढकी हुई।

(१२)

कही-कही मौक्तिक-सी उडु-प्रभा
खुले दृगो से अवलोकती हुई
बनी वशीभूत-विराग-भावना
अहो ! नदी-अक-निमज्जिता हुई ।

(१३)

कि काटती कानन के तमिस्र को,
कि पाटती स्वर्णिम रश्मि तीर मे,
तरग-मालाऽऽकुलिता तरगिणी
बटा रही क्षत्रिय-कुड की प्रभा ।

(१४)

वही चली जा ऋजु-बालिके ! प्रिये !
बढी चली जा सहसा पयोधिगे !
प्रवाह तेरा कमनीय कान्त है,
समीप तेरा बहुधा प्रशान्त है ।

(१५)

अये ! तुम्हारे तट पै दिनान्त मे
प्रिये ! न चिता-विहगी उडी कभी,
न घूक[1] आये उपकूल[2] रात्रि मे,
न तीर आया भय प्रात-काल मे ।

---

[1]उल्लू । [2]पास ।

(१६)

समीप तेरे सरि[1] ग्रीष्म मे कभी
प्रसून से शोभित भूमि-अक मे,
विचारते जीवन के रहस्य को
शयान[1] होते सुख से कुमार है।

(१७)

निदाघ मे तापित तीव्र अशु से
करी[2] यहाँ आ अवगाहते सदा,
अतीव सक्षुब्ध प्रसारती प्रभा
पयस्विनी - तुग - तरग - भगिमा।

(१८)

कभी-कभी पूर्ण-प्रकाश चद्र का
निशा-समुल्लास[3] बिखेरता हुआ,
कुमार के चिंतन-शील चित्त मे
प्रमोद प्यारा भरता अतीव था।

(१९)

अभी पुरी-मदिर-वाद्य प्रात मे
निनादिता थे करते सभी दिशा,
अवश्य आवर्तिनि[4]-अक-बीचि मे
अभूरि आघात प्रचारते रहे।

---

[1]लेटे हुये। [2]हाथी। [3]आनद। [4]नदी।

(२०)

कभी-कभी ले चरवाह वंशिका
प्रसन्न गाते सरि के समीप थे,
कुमार के भी मन मे अनेक
विशुद्धता-सयुत राग[1] फैलते।

(२१)

अहर्निशा एक-रसा प्रवाहिता,
महान-पूता, वहु-नीर-सयुता,
अजस्र प्रालेय-गिरीन्द्र-उद्भवा[2]
प्रमोद्दा थी सरिता कुमार को।

(२२)

नदी वनी काल-प्रवाह-तुल्य ही
अहर्निशा थी वहती जलोत्तमा,
अहार्य्य-कन्या अति शक्ति-शालिनी
वही पथो का अवरोध नाशती।

(२४)

नितान्त एकान्त-निवास-सस्पृही[1]
कुमार को थी सरि मोद-दायिनी,
कभी-कभी आ उसके समीप वे
विचारते जीवन का रहस्य थे।

(२५)

दिनेश की वारिद की सुता नदी,
हिमाद्रि की कानन की प्रिया नदी,
अखंड प्रालेय-विनि सृता नदी
बही महावात-प्रकपिता नदी।

(२६)

कुमार नि सग[2] नदी समीप मे
सदा-महा-चिंतन-शील भाव से
विरक्त-नि श्वास-समेत देखते
तटस्थ-पुष्पावलि घर्म-मूर्च्छिता।

(२७)

महान गभीर तथैव निर्मला,
स-शक्त हैं किन्तु अमन्यु-भाविनी,
प्रवाह तेरा सरि! श्रीकुमारको
बना समुत्तेजक, किन्तु सात्त्विकी।

---

[1]इच्छुक। [2]अकेले।

(७६)

वने महाद्वीप भविष्य-भूत के
सुमध्य मे जीवन अन्तरीप-सा,
सम्हाल ले जो पथ वर्तमान का
वही अलक्ष्येन्द्र[1]-समान ख्यात हो।

(७७)

लिये चले जीवन-भार शीस पै,
झुके, रुके जो न कदापि मार्ग मे,
यही सुखी सबल[2]-युक्त अंत में
प्रसिद्ध साफल्य-सखा हुआ यहाँ।

(७८)

हुआ करे लोमश-सा प्रवृद्ध या
वना करे रावण-सा सुविक्रमी,
परन्तु हो जीवन साधु राम-सा
स्वकीय-कल्याण-विधान-सुस्पृही।

(७९)

प्रकाश ही हो अथवा तमिस्र हो,
सुभाग्य ही हो अथवा कुस्वप्न हो,
प्रकंप-संयुक्त कि स्थैर्य-युक्त हो,
परन्तु हो जीवन जीविताश्रयी[3]।

---

[1]सिकंदर बादशाह। [2]मार्ग का पाथेय। [3]जीविका सहारा लेनेवाला।

(८०)

न प्राण लेना अति क्लिष्ट कार्य है,
पिपीलिका भी डसती करीन्द्र को,
परन्तु देना वश मे न अन्य के
नरेन्द्र के या कि नरेन्द्र-नाथ[1] के।

(८१)

समस्त जो जीवन-रत्न है यहाँ
पिरो सका जीवन एक ताग मे,
मनुष्य आता जल के प्रवाह-सा,
तथैव जाता गति-सा समीर की।

(८२)

मरुस्थ कासार मिला जहाँ रुक,
पिया वही नीर स्व-मार्ग मे चले,
अनिश्चिता आगम की दिशा यहाँ
कहाँ गये स्थानक[2] इष्ट है नही।

(८३)

अहर्निशा की शतरज है विछी,
नरेश-प्यादे सब खेल-वस्तु है,
गये चलाये कुछ देर के लिए,
हुये इकट्ठे फिर एक ठौर मे।

---

[1]सम्राट्। [2]स्थान।

(८४)

पयस्य टूटी शिविरस्थली मही,
स-सैन्य आये नृप के समूह भी,
रुके यहाँ केवल एक रात्रि ही
विलोक सूर्य्योदय वे चले गये।

(८५)

मनुष्य का जीवन एक पुष्प है,
प्रफुल्ल होता यह है प्रभात में,
परन्तु छाया लख सांध्य काल की
विकीर्ण[1] होके गिरता दिनान्त में।

(८६)

मनुष्य का जीवन रंग-भूमि है,
जहाँ दिखाते सब पात्र खेल हैं,
जभी हिलाया कर सूत्र-धार ने
हुआ पटाक्षेप तुरन्त मृत्यु का।

(८७)

निसर्ग ने दिव्य विभूति जीव को
प्रदान की जीवन की अदीर्घता,
परन्तु जो जीवन मृत्यु ने दिया
सु-दीर्घ है, शाश्वत है, अनन्त है।

---

[1]विस्त्रंसित।

(२०)

(चला बँधे हाथ मनुष्य विश्व को,
बिता दिया जीवन चार साँस ले,
चला खुले हाथ जभी श्मशान को,
खुला सभी जीवन का रहस्य भी ।)

(२१)

कभी-कभी अंतिम वस्त्र' को उठा
जभी विलोका मुख देह-शेष का,
लखा जरा-जीर्ण शरीर प्रेत का,
गया तिरस्कार किया स्व-बंधु से ।

(२२)

पड़ी हुयी है कुछ श्वेत अस्थियाँ
दिनान्त मे धूमिल जो विभासती ।
विचार मेरे थक-से गये, तथा
अजस्र देती यह ठोकरे उन्हे ।

(२३)

प्रभात की पूषण-रश्मियाँ यहाँ
सदा गिराती कुछ बुन्द ओस के,
परन्तु ज्यों भस्म विलोकती उन्हें
अदृष्ट होते वह भस्ममान' हों ।

(२४)

सभी थके मानव क्लान्ति पा सके,
अशान्त जो दानव शान्ति पा सके,
यहीं—इसी स्थान विशेष में—सदा
पुकारते लोग जिसे श्मशान है।

(२५)

यहीं सभी मानव एक्य-भाव से,
प्रशान्त यात्री सब मृत्यु-मार्ग के,
अदृष्ट होते उस दीर्घ पथ में
जहाँ न चर्चा पुनरागमादि की।

(२६)

यही चिता, भीतिद[1] काल-द्वार जो,
सनातनी नींद मनुष्य की यही—
विचार, हैं भाव यहाँ न अन्य हैं
अवाप्त होता अतिरिक्त भस्म के।

(२७)

मनुष्य का जीवन नाट्य-भूमि है,
प्रवेश-निर्वेश बने हुये जहाँ,
अवाप्त होती उसको स्व-कर्म से
शिशुत्व-तारुण्य-जरत्व-पात्रता।

---

[1] भयकर।

(२८)

मनुष्य बालारुण-सा उगा, जगी
पयोज[1]-नेत्रा-सरसी-प्रसन्नता ;
प्रगल्भता[2]-प्राप्त हुआ कि आ गयी
सरोज-संध्यारुण मे विपण्णता ।

(२९)

मनुष्य जीना वह काल चाहता,
न वृद्ध होना वह याचता कभी,
गयी, न आयी युवती[3] दशा वही,
न आ गयी, है जरठा[4] दशा वही ।

(३०)

न देह होती लकुटावलंबिता,
न ज्योति अस्पष्ट अदीर्घ नेत्र में,
न हास्य में कुंठितता विराजती,
न प्राप्त होती यदि वृद्धता हमे ।

(३१)

न आह होती नर की गभीर जो,
कराह मे भी कटुता न व्यापती,
न देह को जर्जरता व्यथोहती,
न प्राप्त होता स्थविरत्व[5] जीव को ।

(३२)

मनुष्य चाहे जितना सुखी रहे,
अनन्त चाहे उसका प्रमोद हो,
समाप्त आशा उसकी हुई जभी,
ज्वरा[1] तभी आकर कट दाबती ।

(३३)

चतुर्दिशा मे धुँधला प्रकाश हो,
प्रलम्ब छाया गिर भूमि मे पडे,
थकान हो, निर्बलता महान हो,
विचार देखो, तब मृत्यु आ गयी ।

(३४)

तरंगिता काल-नदी बही तथा
अनन्त-धामाम्बुधि[2] पास आ गया,
बचा सका, हा ! तृण भी न दड का
मनुष्य डूबा सहसा भवाब्धि मे ।

(३५)

किं जर्जरा जीवन की तरी चली
तरंग-सपूरित काल-सिधु मे,
थपेड कर्मास्रव-नीर की लगी
तुरन्त डूबी वह मृत्यु-घाट मे ।

---

[1]मृत्यु । [2]अनन्त तेज का समुद्र अथवा अनन्त स्थानवाला समुद्र ।

(३६)

करे प्रशंसा अति ही मुनीन्द्र या
कवीन्द्र चाहे रच दें गुणावली,
सुकीर्तिता शेष-सहस्र-मौलि से,
भले रहे, किन्तु जरा विद्रूप्य[1] है।

(३७)

मनुष्य का यौवन भूल से भरा,
तथा प्रगल्भत्व त्रिशूल से भरा,
जरत्व भी निष्प्रभ धूल से भरा,
मरुस्थ भू-खंड बबूल से भरा।

(३८)

मनुष्य है जीवन-जात[2] कंज-सा
प्रफुल्ल आरम्भ सु-रम्य भासता
परन्तु होता असु[3]-हीन शीघ्र ही,
विनष्ट होते बन शुष्क पत्र भी।

(८४)

न वस्तु है भू पर मृत्यु नाम की
कदापि नक्षत्र न डूबते कही,
विभासते जाकर अन्य लोक मे
प्रकाशते व्योम-किरीट मे सदा।

(८५)

धरित्रि मे जीवन आ प्रवेग से
कहा स-तार[1] स्वर 'मृत्यु-मृत्यु' ही,
दिगत के कदर बोलने लगे,
किया प्रतिध्वानित 'मृत्यु-मृत्यु' ही।

(८६)

महान आश्चर्य्य, कि जीव जो गये
विनाश के अंध-तमिस्र मार्ग से,
कदापि लौटे न, बता सके नही,
प्रयाण का उत्तम मार्ग कौन है।

(८७)

अनेक-रूपा बहु-वेषिणी तथा
त्रिलोक-जेत्री[2] तुम-सी न अन्य है,
सदैव तू ही सबको बता रही
कि मृत्तिका-मात्र शरीर-धाम है।

---

[1]उच्च। [2]विजयिनी।

(८८)

हटी धरित्री युग-नेत्र से जभी,
सुदृश्य आया पर-लोक का तभी,
सँगीत स्वर्गीय उसे सुना पड़ा,
उड़ा जभी मानव मृत्यु-पक्ष पै ।

(९९)

यही महा नीद, जिसे न तोड़ती
धरित्रि की घोर विपत्ति भी कभी,
यही निशा है, जिसको न नाशती
प्रभात की दीप्ति किसी प्रकार से ।

(९०)

न मृत्यु से है मरना अ-वीरता
न मृत्यु से है डरना प्रवीरता,
न मृत्यु से उत्तम अन्य मित्र है,
जिसे न आता मरना, मरे न क्यो ?

(९१)

विचारणीया जग-व्यापिनी दशा,
यही सभी से परिचिन्तनीय है,
कि मानवो का अभिशाप है यही
डरे, मरे, आगम देख मृत्यु का ।

(९२)

विनष्ट होता पहले प्रमोद है,
पुनश्च आशा करती प्रयाण है,
विभीति होती फिर नष्ट अंत मे,
स-धैर्य्य आती जब मृत्यु सामने।

(९३)

मनुष्य का निश्चित अंतकाल है,
न जानते कायर क्रूर कल्मषी,
पुन. पुन. हो मृत जी रहे वही
जिन्हे कि जीना मरना समान है।

(९४)

जगज्जयी भूपति भी न जानते,
कहाँ-कहाँ विस्तृत मृत्यु-राज्य है,
प्रसार आ-सप्त-समुद्र-गोचरी
दिनान्त-रात्र्यन्त-प्रमाण व्याप्ति है।

(९५)

किरीट से मंडित मस्तकेन्द्र भी
निदान होते सब भस्मसात हैं,
निदेश देती जब मृत्यु है स्वयं
चिताग्नि होते यह शैलशृंग मे।

(२८)

मनुष्य यों ही निज भाव-कर्पटी[1]
स-तर्क होके बुनता अजस्र है,
विचार का ही करघा बना हुआ,
लखो, रही है बुन चातुरी-तुरी।

(२९)

विचार जो जागृत एकदा हुये,
पुनश्च सोना वह जानते नहीं;
प्रकाशते विद्युत-वेग से सभी
प्रदीप्त होती मति-रोदसी[2] सदा।

(३०)

विहाय सीमा सब देश-काल की
विचार-संचार स्वतंत्र ज्यों हुआ,
कि भूमि भी है फिर भासती हमें
पवित्र-सी पुण्य-निवास-सी महा।

(३१)

निमग्न यों गूढ़ विचार में सुधी
धरित्रि को अवर को विलोकते
विचारते थे निज कार्य्य-योजना,
प्रशान्ति बाह्यान्तर[3] वर्तमान थी।

---

[1]चादर। [2]भूमि-आकाश के बीच का भाग। [3]अंदर-बाहर।

(३२)

प्रभात के पक्ष-प्रसार पै चढी
गभस्तियाँ ज्यो रवि की प्रकाशती
कुमार की प्रस्तुत भाव-शैलियाँ
विराजती थी हृदयाधिरूढ हो ।

(३३)

अनादि भू और अनन्त कालके
नितान्त निर्मोक[1] विचार व्याप्त थे,
बना रही थी जिन की गभीरता
कि सूनु है वे अमृतत्व-कुक्षि के।

(३४)

विचार, जो सृष्टि-प्रवाह मोडते,
प्रसूत होते वह आत्म-तत्त्व से,
कुमार की जो हृदयानुभूति को
बना रहे थे परिपुष्ट नित्य ही ।

(३५)

महान है वे नर जो विचारते
कि तत्त्व जो पुदगल[2] से वरिष्ठ है,
प्रसिद्ध आध्यात्मिक है वही कि जो
धरित्रि-संचालन मे समर्थ है ।

---

[1]नग्न । [2]भौतिक पदार्थ ।

(३६)

कुमार-मस्तिष्क-सुमेरु-शीर्ष से
विलोकते मानस-वीचि-भंगिमा
विचार के अशु[1] प्रफुल्लता-भरे
खिला रहे थे मन-पुडरीक यो।

(३७)

सुषुप्ति मे निर्जर[2] ज्यो कभी-कभी
सु-स्वप्न देते शुभ आत्म-बोध के,
विचार-कूटस्थ कुमार-चित्त मे
प्ररोहते आत्मिक भव्य भाव थे।

(३८)

उठे अकस्मात विचार चित्त में
निशादि में स्वच्छ निशान्त-स्वप्न-से,
जिनेन्द्र-आत्मा ढक तथ्य से गयी
यथा जल-प्लावन से अरण्य-भू।

(३९)

परन्तु आयी ध्वनि ढोल झाँझ की
विषाण-मजीर-मृदग-चग की,
विवाह से आ वर लौट ग्राम मे
स-मोद आया नृप-द्वार भेट को।

---

[1]किरण। [2]देवता।

(९२)

कठोर था चित्त महान सत्य-सा,
विचार-धारा दृढ शुद्ध न्याय-सी,
विवाह हो, ? दिव्य विवाह-योजना
बना रही मानस एक-तन्त्र थी ।

(९३)

विवाह हो ? दिव्य विवाह क्यो न हो,
बरात हो ? देव-समाज क्यो न हो,
बने नही पाणि-गृहीत मुक्ति क्यो
न देव हो श्रीवर-मडलेश[1] क्यो।

(९४)

अखड भोगी बनता अवश्य, तो
अखड ही हो दृढ ब्रह्मचर्य्य भी,
अखड हो प्रेम, अखड ज्ञान, तो
अखड-सौभाग्यवती प्रिया मिले।

(९५)

प्रभात मे सबल[2] और आ गया
प्रदीप्त तारागण और हो गये,
दिवा-धरित्री प्रतिविम्बिता हुई
समुच्च आसक्ति, दृढा विभावना[3] ।

---

[1]दूलह-समाज में श्रेष्ठ । [2]उत्तेजना । [3]विचार-धारा ।

(९६)

धरित्रि की भी करुणामयी गिरा
हुई अभिव्यक्त पिकी-निनाद से,
चतुर्दिशा शब्द समीर ले चला,
समा गयी जागृति भूमि-लोक मे।

(९७)

प्रभात मे कोकिल-कठ-व्याज से
वसन्त के पादप कूजने लगे,
अनूप अध्यात्म-सगीत काकली[1]
उडेलते थे प्रति कर्ण-कुंज मे।

(९८)

निसर्ग-आत्मा बन कुज-कोकिला
विवाह-सगीत अलापने लगी।
प्रफुल्ल शाखी पर मजरी हुई
खिली बनो मे कलिका गुलाब की।

(९९)

कि कोकिलाएँ रत-काकलीक[2] हैं
कि लीन केका-रव मे मयूरियाँ,
कि वप्र-घाटी-ध्वनि[3]-अद्रि-व्योम मे
विवाह-संवाद-प्रसार हो रहा।

---

[1]कोकिला की ध्वनि। [2]गायन-लग्न। [3]नदी।

(१००)

पिकी ! तुम्हारी यह गीति शाश्वती
सुनी गयी [संतत राव-रंक से,
अत मुझे दो वह तान, जो सदा
मुदा सुनी जाय जिनेन्द्र-भक्त से ।

(१०१)

पिकी ! तुम्हारे स्वर जो मनुष्य मे
प्रसन्नता है भरते दिवौकसी[1]
प्रबुद्ध नक्षत्र प्रकाश से हुये
सरस्वती के मृदु बीन-राग से ।

(१०२)

प्रसन्न प्रत्येक पलाश वृक्ष का,
प्रबुद्ध प्रत्येक तरंग नीर की,
वन-प्रिये ! मत्त कूहक से हुये
कुमार-हृत्तन्त्र मधु[2]-प्रभात में ।

(१०३)

अनूप आयोजन स्वीय व्याह का
पडे-पडे सोच रहे कुमार थे,
कि पूर्व मे ब्रह्म-मुहूर्त की त्विषा
स-हर्ष आयी उदयाद्रि-शृंगपै ।

---

[1]देवी । [2]वसन्त ।

(३६)

न काल ऐसा इह लोक मे बचा,
न जीव उत्पन्न हुये, मरे जहाँ,
इसी लिए विज्ञ-समाज में यहाँ
प्रसिद्ध वैज्ञानिक काल-लोक है।

(३७)

न योनि ऐसी इस भूमि में बची
जिसे न संप्राप्त हुआ स्व-जीव हो,
अत. जिसे पडित विश्व मानते,
प्रसिद्ध भू मे भव-लोक है वही।

(३८)

सदैव प्राणी भ्रमते त्रिलोक में
स्व-कर्म मिथ्यात्व-समेत पालते,
समेटते अर्जित पाप-पुज है,
प्रभावशाली यह भाव-लोक है।

(३९)

विमुक्ति-दाता जिन-धर्म-श्रेष्ठ है,
अत करो पालन यत्न से इसे,
अनूप रत्न-त्रय-रूप मोक्ष का
निधान[1] है केवल-ज्ञान सर्वग।

---

[1]भाडार।

[द्रुतविलंबित]

(४०)

सुहृद[1]-संग सदा रहना हमे
वितरता बल-बुद्धि-विवेक है,
पर असग-प्रसग परेश का
विदित आत्म-समुन्नति-हेतु है ।

[वंशस्थ]

(४१)

सदैव प्राणी इस मर्त्य-लोक मे
रहा अकेला, रहता अ-संग है;
रहा करेगा यह संग-हीन ही
प्रसंग होगा इसका न अन्य से ।

(४२)

असग लेता नर जन्म विश्व मे
असग ही है मरता पुन पुन,
सदा अकेला सुख-दु ख भोगता
न अन्य साझी उसका त्रिलोक मे ।

(४३)

अ-संग ही सौख्यद भोग भोगता,
अ-संग ही दु.खद रोग भोगता,
सदैव प्राणी यमराज-सग मे
असग जाता, फिरता अ-संग है ।

---

[1] अथ एकत्व-भावना ।

(४४)

सदा अकेला करता कु-कर्म है
कुटुम्ब के पालन-हेतु विश्व मे,
इसीलिए पुद्गल-पाप-बंध से
अवश्य पाता नरकाधिकार है।

(४५)

परन्तु जो मानव मुक्त-संग हो
लगे हुये सम्यक-दर्शनादि मे,
व्यतीत भू मे करते स्व-कर्म है,
कहे गये केवल-ज्ञान-संयमी।

(४६)

असंग भू मे करते व्रतादि है,
असंग सारे तप-जाप साधते,
वही महा विज्ञ मनुष्य अंत मे
अतीव पाते सुख पुण्य-बंध से।

(४७)

विभूतियाँ, जो सुर-लोक-सिद्ध है,
महान निःश्रेयस-संपदा तथा
विशुद्ध कैवल्य-प्रदा त्रिलोक में
अवाप्त होती गतियाँ विदग्ध[1] को।

---

[1]पंडित।

(१००)

स्व-धर्म चिन्तामणि-कल्पवृक्ष है,
स्व-धर्म संपूजित कामधेनु भी,
स्व-धर्म ही भू-गत स्वर्गलोक में,
स्व-धर्म ही श्रेय, विधर्म हेय है।

(१०१)

अतः करो पालन नित्य धर्म का,
पदाब्ज-प्रक्षालन सत्य-धर्म का,
न प्राप्त होती जिसके बिना कभी
मनुष्य को केवल-ज्ञान-कल्पना।

[द्रुतविलंबित]

(१०२)

हृदय-अंबुधि को जिनराज के
अति तरंगित-सा करता हुआ
विरति-पोषक-द्वादश-भावना-
निचय[1] निश्चय ही उठने लगा।

(१०३)

अब महान प्रमत्त, गजेन्द्र का
दृढ़ अलान[2] हुआ श्लथ[3], देखिए,
चल न दे यह कानन को कहीं
रह गया अवरोध न अंत में।

---

[1]समूह। [2]बंधन। [3]ढीला।

चौदहवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

न काल जाते लगता विलम्ब है,
विहाय चारित्र्य न काल-लब्धि भी,
विलोकते विश्व-दशा सनातनी
कुमार को त्रिशति[1] वर्ष हो गये ।

(२)

दिखा पडे काल-महा-समुद्र में
कि वर्ष वे त्रिशति बुन्द-तुल्य थे,
त्रिलोक मे कौन पदार्थ है कि जो
न काल के नाशक हस्त मे गया ।

(३)

कुमार पीछे फिर देखने लगे
कि दृष्टि से ओझल भूत ज्यो हुआ;
शनै शनै काल-कपाट[2] तीस वे
हुये सभी मद-विराव[3] वन्द थे ।

---

[1]तीस । [2]किवाड़े । [3]चुपके ।

(५२)

"अखंड-सौभाग्यवती कलत्र का
अवाप्त होना कुछ खेल है नही,
वही वली पा सकता उसे कि जो
खपे, मरे, और जिये अनेकधा।

(५३)

"सुना किसी से वह दिव्य नायिका
विराजती तेरह-खड[1] धाम पै
अजस्र आरोहण[2] रात्रि-वार का,
सुमार्ग भी दीर्घ त्रयोदशाब्द[3] है,

(५४)

"न शीघ्र-गामित्व, न मद-गामिता
न यान-साहाय्य, न दड-धारणा,
न पास पाथेय[4], न दास-मडली,
तथापि जाना अनिवार्य्य कार्य्य है।

(५५)

"अभूरि-भिक्षा-उपवास-साधना,
अवस्त्र-से ही फिरना इतस्तत,
शयान[5] होना महि-क्रोड में सदा
अजस्र आगे वढ़ना विधेय है।

---

[1]तेरहवाँ गुणस्थान। [2]चढ़ना। [3]१३ साल का। [4]सबल। [5]लेटना।

(५६)

"न सर्प से भीति, न वन्य जन्तु से,
न ग्राम से प्रीति, न काम धाम से,
न खड्ग से त्रास, न हेति से भिया[1]
नितान्त नि शक प्रयाण ध्येय है ।

(५७)

"जिसे सदा अक्षय सिद्धि श्रेय है,
स्व-चित्त निर्वाण-समीप नेय है,
अजस्र नि श्रेयस-कीर्ति गेय है,
अवश्य कैवल्य उसे विधेय है ।

(५८)

"अत. चलूँगा कल मैं अवश्य ही
मुझे महा-सिद्धि-विवाह ध्येय है
प्रवृत्त होगी कल मार्ग[2]-मास की
पवित्र शुक्ला दशमी मनोरमा ।"

(५९)

सभी जनो ने बहु खिन्न भाव से
कुमार-संकल्प सुना अवाक हो,
परन्तु लौकाकित देव-मंडली
तुरन्त बोली जयकार दे उन्हे —

[1]डरै । [2]मार्ग-शीर्ष मास ।

(६०)

"प्रभो ! तुम्ही क्षत्रिय-श्रेष्ठ ! धन्य हो,
तुम्ही प्रतापी जग मे अनन्य हो,
सुमार्ग कल्याण-समेत आप्त हो,
विभो ! तुम्हे सम्यक ध्येय प्राप्त हो।

(६१)

"सदा तुम्हारी जय हो दयानिधे !
समस्त हिंसा क्षय हो, कृपानिधे !
दुरन्त हो नर्तन नष्ट पाप का,
तुरन्त हो वर्तन धर्म-चक्र का।

(६२)

"विनाशकारी बन मोह-शत्रु के
प्रभो ! करोगे जग-हेतु कार्य्य जो,
वहित्र[1] होगा वह विश्व-सिंधु का,
दिनेश होगा भव[2]-रात्रि का वही।

(६३)

"स्व-धर्म-रत्न-त्रय-प्राप्त हो, प्रभो !
धरित्रि में उन्नत भव्य जीव को,
विलीन मिथ्यामत का तमिस्र हो
दिखा पडे मोक्ष-रमा मनोरमा।

---

[1]जहाज। [2]जगत।

(११६)

वने सभी सस्तुति-लीन यो तभी
मनुष्य बोले कल कोटि कठ से
"प्रभो ! तुम्हारी जय हो, तुम्ही, विभो !
धरित्रि-गामी[1] परमात्म-रूप हो ।

(११७)

"मदादि-शत्रुजय हो, जिनेन्द्र हो,
गुणाढ्य, रत्नाकर हो, सुरेन्द्र हो,
प्रभो ! जगत्ताप-प्रशात-कारिणी
त्वदीय दीक्षा जन-रक्षिका बने ।

(११८)

"नमोस्तु ते, देह-सुखाति-निस्पृही
नमोस्तु ते मोक्ष-रमार्ध-विग्रही[2],
नमोस्तु ते हे अपरिग्रही,[3] प्रभो !
नमोस्तु ते भक्त-अनुग्रही, विभो !

(११९)

"अहो ! अलकार विहाय रत्न के
अनूप-रत्न-त्रय-भूषिताग हो,
तजे हुये अवर अग-अग से,
दिगवराकार विकार-शून्य हो ।

---

[1]पृथ्वी पर चलने वाले । [2]मोक्ष-लक्ष्मी के पति । [3]असग्रही ।

(१२०)

"समीप ही जो पट देवदूष्य है,
नितान्त श्वेताबर-सा बना रहा,
अ-ग्रथ, निर्द्वन्द्व महान संयमी,
बने हुये हो जिन-धर्म के [1]ध्वजी ।

(१२१)

"समेत हो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्य के,
निकेत हो चार प्रकार ज्ञान के,
उपेत हो वीर ! दया-क्षमादि से
प्रचेत[2] हो हे प्रभु ! शुक्ल ध्यान के ।

(१२२)

"नितान्त[3] हो इच्छुक आत्म-सौख्य के
निरीह कैसे तुमको कहे, प्रभो !
कि मोक्ष का है अनुराग, जो तुम्हे
न ज्ञात, कैसे तुम वीत-राग हो ?

(१२३)

"प्रसिद्ध-रत्न-त्रय-संग्रही ! तुम्हे
नितान्त निर्लोभ कहे, अयुक्त है ।
त्रिलोक-राज्येश बने प्रयत्न से
न कीर्तिभागी तुम राज्य-त्याग के ।

---

[1]ध्वजा वाले । [2]जानने वाले । [3]अथ व्याज-स्तुति ।

(१२४)

"चला-चला वाण स्व-ब्रह्मचर्य्य के
अभर्तृका[1] काम-वधू वना दिया
अहो ! कृपा रचक की न पाप पै
कुमार ! ऐसे करुणानिधान हो !

(१२५)

"सदैव आशा रख मोक्ष-प्राप्ति की
हुये यशस्वी [2]अभिलाष-शून्य हो
तुरन्त त्यागा जब वंश-वधु,[3] तो
कुमार ! कैसे तुम विश्व-वंधु हो ।

(१२६)

"विहाय भोगावलि सर्प-भोग[4]-सी
निपीत-पीयूष-विशुद्ध-ज्ञान हो,
प्रभो ! वताये यह जाइए हमें,
व्रती ! वनें प्रोषध[5] के कि सत्य है ।"

(१२७)

प्रशान्त . वैठे दृढ ग्राव-मूर्ति-से
नितान्त ही निश्चल-अग ध्यान मे,
उसी घडी ज्ञान हुआ कुमार को
अवश्य कैवल्य-अवाप्ति ध्येय है ।

---

[1]विधवा । [2]वशके भाई लोग । [3]फन । [4]व्रत विशेष ।

(३६)

पुन हुआ ध्यान उन्हे कि वे सुधी
प्रसिद्ध थे 'स्थावर' नाम से कभी
स-वेद वेदाग स-शास्त्र धर्म के
महान् ज्ञाता द्विज पूज्य-पाद थे।

(३७)

तथैव आयी सुधि वीर देव को
कि 'विश्वनदी'-सुत 'विश्व-भूति' के
महा प्रतापी वलवान विक्रमी
अजेय योद्धा जव वे प्रसिद्ध थे।

(३८)

पुन. हुये संसृति में प्रसिद्ध वे
'त्रिपिष्ठ नारायण' नाम से कभी
मिला उन्हें उत्तम चक्र-रत्न था,
प्रतीक[1] जो धर्म-प्रचार-कार्य का।

(३९)

विलोक होते निज आयु क्षीण वे
असार संसार विचार चित्त में,
विराग से साधु हुये, तथा गये,
स-क्रोध त्यागा तन, देव-लोक को।

---

[1]चिह्न।

(४०)

रहे कई जीवन भूमि-पाल वे
पुनश्च त्यागी निज देह मन्यु[1] मे;
अत. हुये कर्म-विपाक से तभी
प्रचड पंचानन उच्च अद्रि पै।

(४१)

पुन. हुआ ध्यान उन्हे कि पाप से
महान हिंसा-मय कर्म से तथा
मरे, हुये वीर पुन मृगेन्द्र ही
समुच्च जम्बूमय सिद्ध-कूट पै।

(४२)

सुतीक्ष्ण थे दत, कराल मौलि से
मराल खाते वह एकदा मिले,
मुनीन्द्र मृत्युंजय को वनान्त मे;
अत उन्हे शिक्षण साधु ने दिया —

(४३)

"मृगेन्द्र ! क्या तू निज पूर्व-जन्म मे
त्रिपिष्ठ नारायण नाम भूप था ?
समस्त भोगे भव-भोग, तृप्त हो,
व्यतीत सारे दिन सौख्य से किये।

[1]क्रोध।

(४४)

"नितम्बिनी, सुन्दरि, मत्तकाशिनी
कुरंग-नेत्रा, वर-वर्णिनी तथा
वधू नतांगी, ललिना, तुझे मिली
विलासिनी, अचि भ्रुवा,[1] मनोहरा।

(४५)

"परन्तु तू जा विषयाब्धि में पड़ा,
न ध्यान हा हा! कुछ धर्म में दिया,
महान पापोदय ने घिरा जभी
मरा, हुआ एक प्रसिद्ध नारकी।

(४६)

"कठोर पाये दुख, कृच्छ[2] कष्ट भी,
विषण्णता, क्लेश तथैव यातना,
महान हिंसा-प्रिय सिंह था, अत
शरीर काटा बहु खड्ग ने गया।

(४७)

"मृगेन्द्र-देही बन तीन जन्म यों
महान हिंसामय पाप भी किये,
न चेतना क्या अब भी तुझे हुई?
न ज्ञान आया, बहु खेद है मुझे।

---

[1]भौं ताने हुये। [2]कठिन।

(१००)

कुमार धर्मी बन बाल्य-काल से
जिनेन्द्र-सपूजन-दत्त-चित्त था,
समस्त सस्कार स्व-धर्म के उसे
बना रहे थे अति धन्य विश्व में ।

(१०१)

"मुदा गये नदकुमार एकदा
सकाश में प्रोष्ठिल साधु के, जहाँ
सुनी दशागा जिन-धर्म की कथा
पवित्र-आत्मा वह शीघ्र हो गये।

(१०२)

"उपद्रवी के प्रति भी न क्रोध हो
कही गई सो अति उत्तमा क्षमा,
कठोरता को सब भाँति त्यागना
द्वितीय है मार्दव[1] अंग धर्म का।

(१०३)

"सदा मनो-वाक्य-शरीर-जात[2] जो
महान कौटिल्य, उसे विनाशना,
तृतीय है आर्जव अंग धर्म का
प्रसिद्ध जो साधु-समाज में सदा ।

---

[1]मृदुता । [2]उत्पन्न ।

(१०४)

"चतुर्थ शोभामय सत्य अग है,
असत्यता ही शुभ-धर्म-नाशिनी,
प्रसिद्ध है पचम अग शौच जो
पवित्रता-मडित धर्म-तत्त्व है,

(१०५)

"सदा त्रस[1]-स्थावर-रूप विश्व मे
समस्त-प्राणी-गण-रक्षणार्थ जो
किया गया पालन इन्द्रियार्थ हो,
प्रसिद्ध है सयम अग धर्म का।

(१०६)

"पुन तपस्या दश-दो प्रकार की
मनुष्य-द्वारा परिपालनीय है,
पुनश्च जो त्याग प्रशस्त ख्यात है
कहा गया सो शुभ अंग धर्म का।

(१०७)

"परिग्रहो को बहु भाँति त्यागना
कहा गया धर्म-अकिंचनाख्य है,
महान जो सौख्यद साधु-सत को
तथा बनाता भय-हीन भी उन्हे ।

[1]गर्मी से डरकर सर्दी में और सर्दी से डरकर गर्मी मे भागनेवाले जीव ।

(१०८)

"पुन सुनो, अतिम अग धर्म का,
कहा गया उत्तम ब्रह्मचर्य्य है,
ग्रहस्थ[1] को भोग्य स्व-नारि ही सदा,
समस्त-नारी-गण साधु त्यागता।"

(१०९)

सुना जभी भूपति ने मुनीद्र से
महान आदोलित-चित्त हो उठे,
विचारने वे सहसा लगे, अहो!
असारता-पूर्ण समस्त विश्व है ।

(११०)

असार होता यह विश्व जो न, तो
इसे न तीर्थंकर देव त्यागते,
तृषा-बुभुक्षा-रुज[2]-काम-क्रोध की
दवाग्नि प्राणी-वन को न दाहती ।

(१११)

मनुष्य का जो धन—धर्म—है, उसे
स्वतत्र हो इन्द्रिय-चौर लूटते,
अभाव में या निज भाव में इसे
अजस्र ही है सब भोग भोगते ।

---

[1] ब्रह्मचर्य्य का अर्थ है कि गृहस्थावस्था में अपनी स्त्री के अतिरिक्त सभी स्त्रियों का त्याग तथा सन्यासावस्था में सभी स्त्रियो का त्याग। [2] रोग ।

(१६४)

सरोज-अतर्गत मजु वारि ले
स-मत्र ज्यो ही छिड़का रतीश ने,
यतीन्द्र ने लोचन खोल के लखा
समक्ष कामेश्वर पुष्प-चाप को ।

(१६५)

ललाट मे दीप्ति प्रशसनीय थी;
मुखाब्ज में सुस्मिति, चाप पाणि में,
मनोज्ञ मौर्वी जिसमें मिलिन्द की
कटाक्ष-वाणावलि-युक्त सोहती ।

(१६६)

लसा शिरोभूषण चद्रकान्त का,
वसत-शोभा-मय अग-राग था,
विलोचनो मे विजयाभिरामता
प्रतीत थी श्याम-सरोरुहाक्ष[1] के ।

(१६७)

रतीश वोला, "अव मै प्रसन्न हूँ,
अभेद्य विश्वास हुआ मुझे कि तू
विनष्ट-कर्मास्रव सर्वथा तथा
अछेद्य सगी शुभ शुक्ल ध्यान का ।

---

[1]शकर ।

(१६८)

"अत करेगा अब तू निरूपणा
कि द्वादशागा गति गूढ ज्ञान की;
धरित्रि मे सर्व-विराग धर्म की
निदेशना[1] ही तव मुख्य कार्य्य है ।

(१६९)

"चतुर्विधा सेवित सघ-शक्ति से
चतुर्दशा-देव-निकाय[2]-सेव्य है,
अवश्य ही केवल-ज्ञान-युक्त हो
मुदा करेगा भव-सिंधु पार तू ।

(१७०)

"त्रिलोक मे निर्मल-कीर्ति-युक्त तू
प्रचार देगा जिन-धर्म-देशना
वृथा न होगे मम वाक्य हे व्रती,
अवश्य होगा व्रत पूर्ण अन्त मे ।"

(१७१)

चला गया काम समाज सग ले
परन्तु डोले न यतीन्द्र ठौर से,
वरच सिद्धासन बैठ शान्ति से
पुन हुये लीन प्रगाढ ध्यान मे ।

---

[1]आज्ञा । [2]शरीर ।

[द्रुतविलंबित]

(१७२)

मनुज जो दृढ निश्चयवान है,
वह नही हटता निज ध्येय से,
जिस प्रकार पतग[1] प्रदीप के
निकट ही तजता निज प्राण है।

[वंशस्थ]

(१७३)

कठोर चर्य्या उपवास आदि मे
व्यतीत यो वारह वर्ष हो गये,
पुन चले वे द्रुत वात-चक्र[2] से
सुधी घुमाते निज धर्म की धुरी।

(१७४)

हिमाद्रि-माला कर विद्ध जान्हवी
प्रवाहिता भू-तल में हुई यथा,
तथा परीक्षा-परिखा[3]-विलघिनी
यतीन्द्र-यात्रा महि-भासुरा[4] चली।

(१७५)

सहस्र-सूर्य्योदय की प्रभा भरी
ललाट मे थी उनके प्रकाशती,
विलोकते ही नर मुह्यमान की
विमोह-यामा हटती न क्यो भला ?

---

[1]कीट। [2]बगला। [3]खाँई। [4]प्रकाशित करनेवाली।

(१२)

शकुन्त[1] बैठे भय-मुक्त वृक्ष पै
कलोलते हैं, मृदु बोल बोलते।
किरी[2]-शशा-वस्त[3] समस्त भूमि में
प्रसन्न, आनंदित, मोद-युक्त हैं।

(१३)

चढ़े शिला पै जिस काल वे सुधी
प्रवेग झंझानिल का न था कहीं
गिरा अनायास बिना प्रहार के
सुदूर टूटा द्रुम एक ताल का।

(१४)

प्रशान्त सिद्धानन को लगा सुधी
हुये समासीन विशुद्ध भाव से,
अभीत बैठा पिक वाम अंघ्रि[4] पै
मराल भी दक्षिण जानु पै लसा।

(१५)

नदी-किनारे चरता स-हर्ष जो
समीप आया वह धेनु-वृन्द भी,
सरोज-तीरस्थ तडाग के उन्हें
विहाय वारेग विलोकने लगे।

---

[1]पक्षी। [2]सुअर। [3]मेंढ। [4]जंघा।

(१६)

जिनेन्द्र के उन्नत बाहु-मूल पै
गिरे तभी दो स्रग[1] अंतरिक्ष से
परन्तु वे एक तटस्थ[2] भाव से
प्रगाढ बद्धासन ही बने रहे ।

(१७)

जिनेन्द्र यो तो असहाय-से लसे
निरस्त्र, निष्कचुक[3], यान-हीन ही।
परन्तु तो भी वह कर्म-शत्रु से
कराल आयोधन[4] मे समर्थ थे।

(१८)

अभेद्य सन्नाह सहस्र शील का,
निचोल भी कोटि गुणानुभाव का,
सवार सवेग-गजेन्द्र पै हुये
जिनेन्द्र थे प्रस्तुत सप्रहार[5] को।

(१९)

विशाल चारित्र्य अनीक-वप्र[6] था,
महान रत्न-त्रय के कलव[7] थे,
कराल कोदंड व्रतोपवास का
उन्हे बनाता अरि से अजेय था ।

---

[1]माला। [2]उदासीन। [3]बिन बख्तर। [4]युद्ध। [5]युद्ध। [6]टीला या मैदान। [7]बाण।

(२०)

अनीकिनी[1] थी वहु गुप्ति आदि की,
स्वय महा सेनप कर्म-संक्षयी,
समक्ष था कर्म अमित्र, सिद्धि का
मुहूर्त आया अभिसन्निपात[2] का।

(२१)

दिनेश मे एक विकंप आगया,
समीर मे एक प्रकप हो गया,
तड़ाग के पंकज वेपमान[3] थे
पयस्विनी का जल काँपने लगा।

(२२)

शरीर की रक्त-प्रवाहिनी शिरा
समस्त निष्मात[4] हुई तुरन्त ही
जिनेन्द्र की लोचन पुत्तली खुली,
स-वेग घूमी, फिर वन्द हो गयी।

(२३)

अचेप्ट है ओप्ठ, अचेत है त्वचा,
अहो, अहो! क्या यह अंत-काल है?
पिंगल[5]-रगा वन सिंहिनी-समा
कि मृत्यु ने ली प्रभु पै उछाल है।

---

[1]सेना। [2]आक्रमण। [3]कपमान। [4]वजी। [5]पीली।

(७६)

विलोचनो मे रसना न थी, तथा
विलोचनों से रसना विहीन थी,
बखानता तो किस भाँति मैं, कहो
कि क्या हुआ, या किस भाँति से हुआ ?

(७७)

मनुष्य से भाषण में मनुष्य की
सुबुद्धि होती अति तीव्र तत्परा,
परन्तु द्रष्टा कहता स्व-भक्त से
सुवाक्य एकान्त-निकेत में सदा ।

(७८)

जहाँ न पानी-पवनानलादि का
प्रवेश होता महि का न व्योम का
नितान्त एकान्त-निवास मे कहीं
जिनेन्द्र थे, और अनन्त शक्ति थी ।

(७९)

पवित्र एकान्त ! त्वदीय अक में,
त्वदीय छाया-मय मजु कुज में,
मुनीन्द्र, योगीन्द्र, किसे न अत में
सदैव दैवी-सहचारिणी[1] मिली ।

---

[1]मुक्ति स्त्री ।

(८०)

खडा रहा स्यदन एक याम यो
जिनेन्द्र लौटे संग दिव्य शक्ति के,
प्रकाश के अवर मे छिपे हुये
सु-व्यक्ति दोनों द्रुत एक हो गये ।

(८१)

कुबेर ने सत्वर ही जिनेन्द्र को
शताग मे सादर ज्यो बिठा लिया,
कि त्यो लगे स्यदन-चक्र घूमने
तुरग देवालय-द्वार से मुडे ।

(८२)

शताग-चक्राहत-व्योम-मार्ग मे
प्रदीप्त होने वहु भस्मनी[1] लगी
पुन पुन. वर्चिष[2] व्योम-चर्चिनी
स्फुलिंग-माला बहु फेकने लगी ।

(८३)

यथा-यथा स्यदन व्योम के तले
चला महा आतुर तीव्र चाल से
तथा-तथा तारक उच्च धाम के
हुये परिक्षाम[3] प्रकाश-विन्दु-से ।

[1]किरणे, लपटे । [2]अग्नि । [3]दुवले ।

(८४)

तथा-तथा आगत व्योम-चक्र से
मनोज्ञ सगीत अश्रूय[1]माण हो,
विलीन होता नभ मे नितान्त ही
सुना गया था, न सुना गया तथा ।

(८५)

तथा-तथा ही नभ की गंभीरता
अनन्त थी, सो फिर सान्त हो गयी;
उसी शिला के तट यान आ रुका
जिनेन्द्र-आत्मा फिर देहिनी[2] बनी ।

(८६)

तथैव स्वर्गीय-प्रकाश-मार्ग से
चला पुन, स्यदन लुप्त हो गया ।
जिनेन्द्र ने लोचन खोल जो लखा
हुई प्रतीता ऋजुवालिका-तटी ।

(८७)

महायती के हृदयानुविम्ब से,
प्रसन्नता से पृथवी प्रपूर्ण थी,
प्रसक्त था आनन मुग्ध भाव में
कि मूक प्राणी गुड खा गया कही ।

---

[1]न सुनी गयी । [2]शरीरिणी ।

(१२)

प्रभात से ही नर-नारि-वृन्द मे
हुआ समुद्वेलित सिंधु हर्ष का,
उठी डुबोती गृह-कार्य सर्वश
अनूप-आनद-तरग चित्त में।

(१३)

मनोज्ञ ग्रामोत्तर मे प्रसिद्ध थी
जहाँ महासेन-समाख्य[1] वाटिका
वही रुके जाकर देव प्रात मे—
मिला समाचार समस्त ग्राम को।

(१४)

तुरन्त नारी-नर का समाज भी
चला कृतारण्य[2]-समीप मोद मे,
न साधु ऐसा, इस ग्राम मे कभी
यती न आया प्रभु-सा प्रसिद्ध था।

(१५)

विलोक शोभा वदनारविन्द की,
निहार आभा प्रभु-अग-अंग की,
वखानते थे सब एक-कठ हो
कि मूर्तिमाना तप-सिद्धि आ गयी।

---

[1]'महासेन' इस सुन्दर नाम की। [2]उद्यान।

(१६)

जिनेन्द्र थे यद्यपि जानते सभी
तथापि पूछा जब वृत्त ग्राम का,
पता चला सोमिल[1] विप्रराज के
यहाँ महा उत्तम याग हो रहा।

(१७)

हुये सहस्रो समवेत[2] विप्र थे,
अशेष ज्ञाता बहु वेद-शास्त्र के,
समाज ऐसा न विहार-प्रान्त मे
कदापि एकत्र हुआ, न भाव्य[3] है।

(१८)

सु-योग ऐसा प्रभु ने विचार के
कहा कि "मै ब्राह्मण-प्रीति-पात्र हूँ,
सदैव चिंता इनको स्व-धर्म की
रही, रहेगी द्विज त्याग-मूर्ति है।

(१९)

"अत. सुने ये उपदेश मामकी,
प्रचार भू मे जिन-धर्म का करे,
सदैव शिक्षा अपने चरित्र से
धरित्रि मे दे नर-नारि-वृन्द को।

[1]सोमिलाचार्य्य। [2]इकट्ठा। [3]होने वाला।

(२०)

"बिता रहे जीवन अन्य लोग हैं
अजस्र आहार-विहार-मात्र मे,
परन्तु है ब्राह्मण सत्य-रूप जो
रहस्य-ज्ञाता बहु-धर्म-कर्म के।

(२१)

"जिसे न आसक्ति, जिसे न शोक ही
कदापि आगतुक[1]से चरिष्णु[2]से,
प्रमोद पाता बहु धर्म-भाव में,
वही कहा ब्राह्मण विश्व में गया।

(२२)

"विशुद्ध जो अग्नि-विदग्ध हेम-सा
खरा दिखाता निकषोपलादि[3] पै,
विहीन है जो भय-राग-द्वेष- से
वही कहा ब्राह्मण साधु मे गया।

(२३)

"तपोधनी, इन्द्रिय-निग्रही तथा
महाव्रती, पीडित लोक-ताप से,
जिसे मिला सगम आत्म-शान्ति का
कहा गया ब्राह्मण श्रेष्ठ है वही।

---

[1]आनेवाला। [2]जानेवाला। [3]कसौटी अथवा अन्य परीक्षा-साधन।

(७६)

लखा असतोष मनुष्य-भाल पै
भरा हुआ मानस दुःख-नीर से,
विलोचनों में उमड़े पयोद थे,
अधीरता आनन में विराजती।

(७७)

लखी गयी दुःख-विना कराह है,
सुना गया रोदन हेतु के विना।
न रच आवश्यकता प्रपच की
अतुष्टि ही है अनुभूत हो रही।

(७८)

अहो, असतुष्ट-मनुष्य-चित्त में
न प्राप्ति का आदर है, न मान है,
जिसे नहीं इच्छित 'देव-दत्त' हो
बने न 'भिक्खूमल' कौन रोकता'?

(७९)

कृतघ्न प्राणी-सम दुष्ट जीव को
धरित्रि-उत्पत्ति न दे सकी कभी,
वसुन्धरा-भव्य अनेक पाप है,
यही महा पाप, महा कु-कर्म है।

'जो मनुष्य अपना नाम 'देवदत्त' न रखना चाहे, वह 'भिक्खूमल' ही रखले।

(८०)

सुतीक्ष्णता मे अथवा विघात[1] म
सुरेन्द्र का वज्र प्रसिद्ध लोक मे,
परन्तु सो भी इस-सा न तीक्ष्ण है
प्रहार मे, मारण मे कि वेध[2] मे

(८१)

सहस्र-आशीविष-दश तुच्छ है,
असख्य भी वृश्चन[3]-डंक सूक्ष्म है,
अगण्य दैवी अभिशाप व्योम से
प्रकांड वर्षा करते कृतघ्न पै।

(८२)

कृतघ्न है जो कृत को न मानता,
कृतघ्न है जो रखता रहस्य है,
कृतघ्न है जो बदला[4] न दे सके,
कृतघ्न है मानव भूल जाय जो।

[द्रुतविलंबित]

(८३)

इस प्रकार कहे कुछ दोष जो
मनुज का करते विनिपात है,
फिर लगे कहने गुण जो सदा
शुभ-समुत्थित जीवन-हेतु है।

---

[1]चोट। [2]वेधन। [3]बिच्छू। [4]प्रत्युपकार।

[वंशस्थ]

(८४)

प्रशंसको को हम प्रेम-भाव से
विलोकते हैं, करते सु-प्रीति हैं
बने हमारी स्तुति के सु-पात्र जो
न सर्वदा वे नर प्रीति-पात्र हैं।

(८५)

सदा प्रशसा करना मनुष्य की,
कि जो महा आदरणीय व्यक्ति हो,
मनुष्य का उच्च उदार भाव है,
गुणावली के स्रग[1] का सुमेरु[2]-सा।

(८६)

लखा गया मार्दव ही मनुष्य के
विनाशता जीवन के कटुत्व को,
अशेष अगार, इसे प्रशैत्य दो,
जला सके चित्त न चित्तवान का।

(८७)

कभी हँसाते शिशु साधु-संत को
विलोकिये यो हँसते हुये उन्हे,
कि खीचते वस्त्र, करस्थ पात्र भी,
प्रसन्न होते करते विनोद हैं।

---

[1]माला। [2]प्रधान गुरिया।

(१४४)

परोपकारार्थ प्रसून फूलते,
परोपकारार्थ फली[1] प्ररोहते,
परोपकारार्थ नदी-गवादि हैं,
परोपकारार्थ शरीर साधु का ।

(१४५)

गजेन्द्र भी खा तृण दान दे रहे,
सुरेन्द्र भी धन्य परोपकार से
न पुण्य कोई पर-लाभ-सा यहाँ
परार्थ[2] तीर्थंकर भी पधारते।

[द्रुतविलंबित]

(१४६)

सकल विश्व विभाजित है द्विधा
विधि-प्रपंच भरा गुण-दोष से ।
मिल सके यदि मंजु मराल तो
पय[3] लहे पय[4] त्याग करे सुधी ।

[वंशस्थ]

(१४७)

प्रवृत्त संध्या उस काल हो गई
निशेश-ज्योत्स्ना-मय अंतरिक्ष था ।
अशेष-नक्षत्र-प्रकाशमान हो
बना रहे थे नभ अर्क[5]-वृक्ष-सा ।

---

[1]वृक्ष । [2]दूसरे के लाभ के लिये । [3]दूध । [4]जल । [5]मदार ।